णकारी प्रवचन”

स्वामी रामसुखदास

कल्याणकारी-प्रवचन

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक में परमपूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज द्वारा गीताभवन (ऋषिकेश) में किये गये कुछ कल्याणकारी प्रवचनों का संग्रह किया गया है। ये प्रवचन भगवत्प्राप्ति के अभिलाषी साधकों के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मार्ग-दर्शक हैं। इनमें गूढ़ तात्त्विक बातों को सरल भाषा और रीति से समझाया गया है। कल्याणाकांक्षी पाठकों से निवेदन है कि वे इस पुस्तक का अध्ययन-मनन करके इससे अधिकाधिक लाभ उठाने की चेष्टा करें।

विनीत—
प्रकाशक

विषय-सूची

श्री हरिः

संसार का आश्रय कैसे छूटे ?

हम भगवान् के आश्रित हो जायें अथवा संसार का आश्रय छोड़ दें, दोनों का एक ही अर्थ होता है। संसार का आश्रय सर्वथा छूट जाने से भगवान् का आश्रय स्वतः हो जाता है और भगवान् के सर्वथा आश्रित होने से संसार का आश्रय स्वतः छूट जाता है। इन दोनों में से किसी एक को मुख्यतः लेकर चलें तो और चाहे दोनों को साथ रखते हुए चलें, एक ही अवस्था हो जाती है। संसार का आश्रय ही खास बाधक है। संसार का आश्रय न छूटने में खास बाधा है—संयोगजन्य सुख की आसक्ति। यह खास बात है। संयोगजन्य जो सुख मिलता है, उस सुख में मन का जो खिचाव है, मन की प्रियता है, वह संसार के सम्बन्ध की खास जड़ है। यह जड़ कट जाय तो संसार का आश्रय छूट जायेगा। संयोगजन्य सुख की लोलुपता भीतर में रहते हुए बाहर से छोड़ दो, साधु भी बन जाओ, पैसा भी छोड़ दो, पदार्थ भी छोड़ दो, गाँवों में चले जाओ, जंगलों में चले जाओ, कहीं चले जाओ, आफत छूटेगी नहीं यानी संसार का आश्रय छूटेगा नहीं।

संयोगजन्य सुख कितना है? शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध आदि पाँच विषय और आदर, सत्कार तथा प्रशंसा-ये सात खास संयोगजन्य सुख हैं। यह खास बाधा है, मूल बाधा है। जब तक इस सुख में आकर्षण है, प्रियता है, यह अच्छा लगता है, तब तक संसार छूटता नहीं अर्थात् संसार का आश्रय छूटता नहीं और इसके छूटे बिना मनुष्य सर्वथा भगवान् के आश्रित होता नहीं।

उधर परमात्मा की ओर चलो तो केवल परमात्मा का ही आश्रय ले लो। इससे संसार का सम्बंन्ध छूट जायगा, संसार की आसक्ति छूट जायगी। संयोगजन्य सुख का बड़ा भारी आकर्षण है। वह त्याग करने से ही छूटेगा। पर कब छूटेगा? जब मनुष्य केवल भगवान् का आश्रय लेकर भगवान् के भजन-स्मरण में तल्लीन होगा और जब पारमार्थिक सुख मिलेगा, तब वह छूट जायेगा। तब वह सुगमता से, सरलता से छूट जायेगा। पारमार्थिक सुख में इतनी विलक्षण अलौकिकता है कि उसके सामने संयोगजन्य सुख नगण्य है, कुछ नहीं है, बिल्कुल तुच्छ है। जब पारमार्थिक सुख मिलने लगेगा, तब सांसारिक सुख फीका हो जायेगा। स्वाभाविक ही सांसारिक सुख तुच्छ प्रतीत होंगे। मान-सम्मान, बड़ाई, भोगसंग्रह इन सबके सुख कुछ नहीं हैं। भगवान् के आश्रय से बहुत विलक्षण आनन्द मिल सकता है। उस आनन्द को ले लो। उस आनन्द को लेने के दो तरीके हैं—चाहे भावना से, चाहे समझ से।

भावना से यों कि भगवान् हैं और मेरे हैं, मैं भगवान् का हूँ—'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई रे।' 'दूसरा न कोई' साथ में यह चाहिये। नहीं तो यह होता है कि भगवान् में अपनापन करते हैं, संसार में अपनापन रखते हुए; और संसार के साथ संयोग रहता नहीं। यह निश्चित बात है कि संसार के साथ अपनापन रखते हुए भी संसार रहता नहीं। इस जन्म से पहले अपनापन जिस कुटुम्ब के साथ था, आज वह कुटुम्ब याद ही नहीं है। इसी प्रकार आज हमारा सम्बन्ध—जिस कुटुम्ब, जिन रुपयों, भोगों के साथ है, वे याद तक नहीं रहेंगे, सम्बन्ध तो क्या होगा? वह रहेगा ही नहीं। तो जो रहेगा नहीं, उसके छोड़ने में क्या जोर आता है? रहने वाला हो, उसको छोड़ने को कहा जाय, तब तो कुछ कठिनता मालूम देगी कि रहने वाली चीज को कैसे छोड़ दें? पर यह तो छूटेगा ही और

छूटता ही चला जा रहा है। जो छूटता ही चला जा रहा है, उसके छोड़ने में क्या जोर आता है ? क्या कठिनता प्रतीत होती है ? केवल मूर्खता के कारण हमने इसको पकड़ रखा है।

थोड़ा-सा विचार करें तो यह बात स्पष्ट समझ में आती है कि बाल्यावस्था में हमारा जिन मित्रों के साथ, जिन खिलौनों के साथ, जिस देश-काल और जिन व्यक्तियों के साथ, सम्बन्ध था, वह सम्बन्ध आज केवल याद मात्र का है। आज थोड़ा-सा भी सम्बन्ध नहीं है। उस अवस्था के साथ सम्बन्ध नहीं है, उन घटनाओं के साथ सम्बन्ध नहीं है, उन खिलौनों के साथ सम्बन्ध नहीं है। उस समय के साथ सम्बन्ध नहीं है।

आप कहते हो, हमारा बालकपन ऐसा था। हम अड़ जायें कि ऐसा नहीं था तो आपके पास कोई प्रबल प्रमाण नहीं है कि आप उस बालकपन को पूरी तरह सिद्ध कर सकें। हम कहते हैं कि हम ऐसे थे, आप कह दो कि आप ऐसे नहीं थे। तो जिद्द भले ही कर लें आप और हम; पर हम और आप अपना बचपन ऐसा था, बतला नहीं सकते। क्या बतावें, कैसे बतावें ? किसकी ताकत है जो उसको बता दे। तो, जब बाल्यावस्था अपनी वर्तमान अवस्था में सच्ची दीखती थी, पर आज उसको सिद्ध नहीं कर सकते, तो आज आपकी जो अवस्था है, उसको आगे सिद्ध करना चाहेंगे तो कैसे करेंगे ? जिस तरह बाल्यावस्था का समय बीता, उसी तरह से यह आज का समय बीत रहा है। भविष्य में क्या होगा ? अभी घंटे भर बाद क्या होगा, पता नहीं ! और घंटा भर पहले क्या हुआ, पता नहीं। आज से युगों पहले क्या हुआ, पता नहीं और आज से युगों बाद क्या होगा, पता नहीं। सब "नहीं" में भरती हो रहा है। केवल वर्तमान पर हम लट्टू हो रहे हैं। वर्तमान भी किसको कहते हैं ? वर्तमान 'है' का नाम नहीं है। जो बरत

रहा है यानी तेजी से जा रहा है, जिसका एक भी रूप स्थिर नहीं था कभी भी; जो इतनी तेजी से जा रहा है; उसी को 'वर्तमान' कहते हैं। वर्तमान कोई काल ही नहीं है। भूत-भविष्यत् की संधि को वर्तमान कहते हैं। 'वर्तमान' जो शब्द है, यह शब्द अर्थ कर रहा है—'चलता हुआ।' यह चल रहा है, चल रहा है, तो हम क्या करें? जो भविष्य है, वह आगे से होकर भूत में जा रहा है। भविष्यत् भूत में जा रहा है—उसको वर्तमान कहते हैं। बरत हीं रहा है, स्थिर रहता ही नहीं, उसका वियोग हो ही रहा है और वियोग हो गया और हो ही जायेगा, तब इसकी तरफ से विमुख होने में जोर क्या आता है, बताओ? रहने वाला हो और उसका त्याग करने को कहा जाये तो कहा जा सकता है कि उसको कैसे छोड़ दें? पर भाई, यह तो हरदम बह रहा है। यह तो जबरदस्ती छूटेगा, रहेगा नहीं; रखना चाहोगे तो सिवाय बेइज्जती, दुःख, संताप और जलन आदि आफत के सिवा कुछ मिलने का है नहीं। जो छूट रहा है, उसको छोड़ दोगे तो निहाल हो जाओगे। इतना आनन्द हो जावेगा कि जिसका कोई पार नहीं।

तो, चाहे तो इस संसार के आश्रय का त्याग कर दो और चाहे केवल भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध रखो। 'हे भगवन्, आप ही हमारे हो।' बस, ऐसे करके उस प्रभु का ही नाम लो, उसका ही चिन्तन करो और उसके अगाड़ी रोओ और उसी को कहो कि महाराज, "हूँ हार्‌यो बहु विधि जतन करि अतिशय प्रबल अजै"। संसार का त्याग करने में मैं तो हार गया। हमारी मनोवृत्तियाँ बड़ी प्रबल हैं, अजय प्रतीत होती हैं; मानो, इनको कोई नहीं जीत सकता। ऐसे कह करके भगवान् के शरण हो जाओ। तुलसीदास जी महाराज कहते हैं, "हूँ हार्‌यो बहु विधि जतन करि अतिशय प्रबल अजै। तुलसिदास वश होइ तबहि जब प्रेरक प्रभु बरजै।" वे प्रभु मना करें तो ये मानेंगे। हम से

तो ये शत्रु सीधे होते नहीं। परन्तु अपनी शक्ति का पूरा उपयोग किये बिना मनुष्य अपनी असमर्थता का अनुभव नहीं कर पाता। अपनी शक्ति से हताश हुए बिना अभिमान मिटता नहीं कि मैं ऐसा कर सकता हूँ। पूरी शक्ति लगा कर कह दे—अब तो मैं नहीं कर सकता, तो उसी क्षण चट काम हो जायेगा यानी भगवान् के शरण हो जाओ तो हो जायेगा। बोध चाहोगे, तो बोध हो जायेगा। पर जब तक अपनी पूरी शक्ति लगा कर ऐसा न कर लो, तब तक ऐसी अनन्यता आती नहीं। इसलिए आपने जो सुना है, समझा है, वह पूरा कर सकते हैं। भीतर यह विश्वास हो जाय कि मेरी शक्ति से काम होगा नहीं, तब स्वतः पुकार निकलेगी कि 'हे नाथ 'मेरी शक्ति से नहीं होता', उसी क्षण काम पूरा हो जायेगा। उसी क्षण भगवान् की शक्ति का आश्रय मिलता है।

अपनी शक्ति के बाकी रहते हुए भगवान् की अनन्यशरण हुआ जाता नहीं। अपने बल का कुछ आश्रय है, हम कुछ कर सकते हैं, कर सकते हैं तो करके पूरा कर लो। जितना जोर लगाना हो, पूरा का पूरा जोर लगा लो। पूरा जोर लगाते ही हो जायेगा। पूरा जोर लगाने पर जब जोर बाकी नहीं रहेगा, तो हो जायेगा और बिना जोर लगाये संसार की आशा छूट जायेगी, तो भी हो जायेगा। जड़ता का आश्रय साथ रखे हुए चिन्मयता का आश्रय नहीं लगने देता, इतना ही काम है इसका।

संसार का आश्रय व्याकरण के 'क्विप्च्' सूत्र की तरह है। इस सूत्र से न गुण होता है, न वृद्धि होती है, आप टिकता नहीं। इसी प्रकार संसार आप टिकता नहीं। इसका आश्रय लेने से न तो सद्गुणों का विकास होता है, न मनुष्य की वास्तविक उन्नति होती है। अतः संसार का आश्रय केवल धोखा है। इसका आश्रय रखने में हानि के सिवाय लाभ किञ्चिन्मात्र भी नहीं।

जड़ता का आश्रय रखने से लाभ हो सकता हो, तो बताओ। कोरा धोखा होगा, कोरा, निखालिस, शुद्ध धोखा होगा। इसमें जो शंका हो, वह आप करो कि इतना लाभ हो जायेगा। इतना कैसे हो जायेगा, कर के तो दिखाओ। अनन्त जन्म के संस्कार आदि बाधक हैं—ये सब कुछ नहीं, केवल बहानेबाजी है। बिल्कुल सीधी सादी बात है कि आपका विचार ही नहीं है, भले आप बहाना अनन्त जन्म के अभ्यास का बना लो। बहानेबाजियों का मेरे को बहुत पता है।

बहानेबाजियाँ मैंने बहुत सुनी हैं। क्या करें, हमारे कर्म ठीक नहीं हैं। क्या करें, कोई महात्मा मिलता नहीं। क्या करें, ईश्वर ने ऐसी कृपा नहीं की। क्या करें, वायुमण्डल ऐसा ही है। क्या करें, समय ऐसा ही आ गया है, समय बहुत खराब आ गया है, समाज में कुसंग बहुत है-ऐसी बहुत-सीबहानेबाजियाँ हैं। हमारा प्रारब्ध ऐसा ही है-सब बहानेबाजी है, कुछ तत्व नहीं ऐसी बातों में। मैंने इनका अध्ययन किया है, मैंने देखा है—ये बहानेबाजी जितनी भी हैं, ये सब केवल असली लाभ से वञ्चित होने के तरीके हैं। कदाचित् असली लाभ न हो जाय—इसके लिये ढूँढ़ ढूँढ़ कर तरीके निकाले हैं और कुछ नहीं। क्या करें कुसंग ऐसा ही है, संस्कार हमारे ऐसे ही हैं, क्या करें हमारा भाग्य ऐसा ही है, कोई अच्छे महात्मा मिलते ही नहीं, अच्छे कोई सन्त हैं ही नहीं। क्या करें, कहाँ जावें ? क्या करें, किस तरह से करें, किससे पूछें, हमारा प्रारब्ध ऐसा ही है। ईश्वर ने हमको ऐसा ही कर दिया ! ईश्वर की माया ही ऐसी है, हम क्या करें ! मानो हम तो दूध के धोये हैं ! ये सब फालतू बातें हैं। ऐसी बढ़िया रीति से कमर कसी है कि किसी तरह से आध्यात्मिक उन्नति न हो जाय। कुछ न कुछ आड़ लगा ही देंगे। मेरे विषय में आप कह सकते हैं कि इनको क्या पता ? इनके गृहस्थी तो है नहीं। दुकान व्यापार

इनके है नहीं; इनको क्या पता ? इनको तो रोटी मुफ्त में मिलती है, बातें बनानी आती हैं। आपने यह सोच रखा है कि किसी तरह बात को यानी कल्याण के उपाय को टाल देना है। आपको इसके बहुत तरीके आते हैं। एक दो चार पाँच तरीके थोड़े ही हैं ! ये सब बात टालने के तरीके हैं। यदि कर्म बाधक है, तो कर्म तुम्हारे किये हुए हैं या और किसी के ? तुम्हारे बनाये हुए संस्कार यदि बाधक हैं, तो क्या उनको तुम मिटा नहीं सकते ? ये संस्कार तो स्वतः हो उपजते हैं, ऐसा आप उत्तर दे सकते हैं। आप ने पैदा किये हैं, पर ये स्वतः उपजते दीखते हैं। आपने किये हैं, वे ही उपजते हैं। आपने देखा है, किया है, सुना है, समझा है, पढ़ा है, उनमें रस लिया है। ऐसे संस्कार आपने स्वयं अपने भीतर डाले हैं। वे अब स्वतः उपजते दीखते हैं। आपके किये हुए ही उपजते हैं। आपके बिना किये एक भी संस्कार नहीं उपज सकता। कोई भी काटे इस बात को ! यह सब केवल आपका बनाया हुआ है। एक संत से पूछा कि 'महाराज, भगवान् में मन कैसे लगे ?' उत्तर मिला कि तुम स्वयं लग जाओ, तो मन स्वतः लग जायेगा। 'मन कहाँ जाता है ?' 'मन को तुम जहाँ ले जाते हो, वहाँ जाता है। तुमने जहाँ-जहाँ सम्बन्ध जोड़ा है, वहाँ-वहाँ जाता है।' प्रश्न आया कि 'महाराज, वहाँ-वहाँ ही मन नहीं जाता, हरेक जगह यह पाजी मन चला जाता है !'

पूछा कि 'मन में कभी वायसराय की चाय पीने का संकल्प होता है क्या ?' कहते हो—'नहीं होता', 'तो क्यों नहीं होता ?' क्योंकि, वहाँ हमने सम्बन्ध जोड़ा ही नहीं। जहाँ आपने सम्बन्ध नहीं जोड़ा, वहाँ मन नहीं जाता। आपके जोड़े हुए सम्बन्धों में ही मन जाता है। आप सम्बन्ध छोड़ दो, मन जाना छोड़ देगा। "आप कमाया कामड़ा किणने दीजे दोष, खोजे जी री पालड़ी कान्धे लीनी खोस।" खुद का किया हुआ है सब काम। खुद ही

करे तो हो जायेगा। खुद का यानी स्वयं का करने का पक्का विचार होगा, तो उसे खुद ही, खोदकर फेंक दो। वह अगर नहीं मिट सके और तुम उसे पूरा मिटाना चाहते हो, उस अवस्था में असमर्थता की पीड़ा होगी, रोना आवेगा। मिटाना चाहने से मिटता नहीं, शक्ति अपनी काम आती नहीं। तब रोना आवेगा, व्याकुलता होगी।

यह विद्या हम सबने अपने बालकपने में काम में ली है। रोने से सब काम हुए। कौन-सा काम नहीं हुआ? छोटा बच्चा रोकरके अपने मन की सब बात करा लेता है न? तो यह रोना आपके हमारे सब के काम में लिया हुआ उपाय है। यूँ रो पड़ो, भगवान् के आगे। भगवान् को झक मारके आपका काम पूरा करना पड़ेगा। हम प्यारे बच्चे हैं भगवान् के। अगर हम बेचैन होकर रो पड़ें तो भगवान् की ताकत नहीं कि हमारी उपेक्षा कर दें। वे कर ही नहीं सकते।

संसार के भोगों को चाहते हैं, उनके संग्रह को चाहते हैं। वे चीजें रोने पर भी नहीं मिलेंगी। मिलना होगा यानी प्रारब्ध में मिलना होगा, तो ही मिलेंगी। मिलनी नहीं होगी, तो नहीं मिलेंगी। पर भगवान् के लिये पारमार्थिक रोना हो जायेगा, तो भगवान् सह नहीं सकेंगे। संसार के दुःखों के लिये रोने की भगवान् परवाह नहीं करते। जो प्राणी संसार का सुख चाहता है, वह तो एक प्रकार से ज्यादा दुःख चाहता है। भगवान् मानो कहते हैं कि पहले मिला हुआ दुःख काफी है; और दुःख लेकर क्या करेगा? इसलिये भगवान् सांसारिक सुख मांगने पर और उसके लिये रोने पर भी वे सुख नहीं देते।

लोग कहते हैं कि भगवान् से याचना की, पूरी नहीं हुई। एक सज्जन थे, उनकी स्त्री बीमार हो गयी। भगवान् से प्रार्थना की, परन्तु स्त्री मर गयी। भगवान् में आस्था हटा ली। भगवान् फेल हो गये, क्योंकि प्रार्थना करने पर भी

भगवान् ने हमारा दुःख मिटाया नहीं, स्त्री मर ही गयी। किन्तु मनुष्य विचारता नहीं कि दुःख ज्यादा था, उसे कम किया तो हर्ज क्या हुआ? परन्तु बात अकल में आती नहीं। मनुष्य अपनी मनचाही वस्तु ही मांगता रहता है। आध्यात्मिक लगन आपमें हो और उसकी पूर्ति के लिये आप रो पड़ें तो भगवान् उसी समय आपकी बात सुनेंगे। क्योंकि वे जानते हैं कि सच्ची बात के लिये रोता है। झूठी बात के लिये जो रोता रहे, उसकी कौन परवाह करे? वह पागल है, बेअकल है, मूर्ख है।

केवल रखने की इच्छा मात्र मनुष्य को तंग कर रही है। रहने का तो है ही नहीं। केवल यह बना रहे। बस, हमारा हो जाय,—भावना से एक सुख मिलता है। यह ही संयोगजन्य सुख है। यह ही आफत है।

साधक के लिए बहुत मार्मिक बात बताता हूं। वह जरा आत्मश्लाघा की बात है, मानो अपनी प्रशंसा की बात है। यद्यपि वह दृष्टि नहीं है? पर बात तो ऐसी है ही (गलती की बात है)। मैंने देखा है। कोरी पोथी की बात नहीं कहता हूं। छूटेगा सभी। सब छूटेगा। यह सब छूटने वाला ही है। परन्तु छोड़ने में असमर्थता मालूम देती है। मनुष्य के यह अनुभव की बात है कि छोड़ने में कठिनाई मालूम देती है। पर कठिनता के आगे हार मत स्वीकार करो। क्योंकि, यह छोड़ना अपने को ही पड़ेगा। घबरा जाओ तो भगवान् से प्रार्थना करो, रोओ। चलते फिरते कहो—'नाथ करूं क्या? मुझसे तो कुछ बनती नहीं! क्या करूं?' जिस क्षण घबरा जाओगे, उसी क्षण चट काम हो जायेगा। जितना संयोगजन्य सुख लिया है, उससे सवाया दुःख हुआ और दुःख मिटा। दुःख सवाया होना चाहिये। थोड़ा-सा दुःख बढ़ जाय तो सुख छूट जायेगा। इसलिये दुःख के समान

संसार में उपकारी कोई नहीं है। पर यह दुःख भीतर में होना चाहिये। परिस्थितिजन्य दुःख बाहर से आता है। जैसे, पुत्र नहीं है, धन नहीं है, मान नहीं है, यह नहीं है, वह नहीं है। ये बाहर के दुःख हैं। ये तो नकली दुःख हैं, असली दुःख ये नहीं हैं। असली दुःख भीतर में होता है, जलन होती है भीतर में। परमात्मा में अपनी वास्तविक स्थिति नहीं हो रही है। भगवान् में प्रेम नहीं हो रहा है! भगवान् के दर्शन नहीं हो रहे हैं! संसार का आश्रय छूट नहीं रहा है—ऐसा होता है भीतर में दुःख। भीतर से जलन होती है। उस दुःख को भगवान् सह नहीं सकते। भगवान् में ऐसा दुःख सहने की शक्ति नहीं है। वे अनन्त आनन्द हैं। वे किसी का भी सच्चा दुःख सह नहीं सकते। भगवान्—

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' हैं।

कौन समझ सकता है कि ऐसा भगवान् का स्वभाव है? कठोरता में तो वज्र से भी कठोर हैं। वज्र पड़े तो पर्वत के टुकड़े-टुकड़े कर दे, उससे भी कठोर हैं। कोमल हैं तो पुष्प से भी कोमल हैं। 'संत हृदय नवनीत समाना। कहा कविन पै कहइ न जाना'। कहना आया नहीं उनको। 'निज परिताप द्रवहि नवनीता'। मक्खन को तो खुद आँच लगे तो पिघले। संत तो दूसरे का दुःख देखकर पिघल जाँय। जब संत ही दूसरे के दुःख को सह नहीं सकते, तो संतों के इष्ट भगवान् कैसे सह सकते हैं? भगवान का ही स्वभाव तो संतों में आया है। तो भगवान् भी सह नहीं सकते। भगवान् बड़े शूरवीर हैं, पर पराये दुःख को सहन करने में बड़े कायर हैं। उनकी शूर-वीरता शून्य हो गयी। वे कुछ नहीं गिनते कि प्रशंसा होगी अथवा निन्दा होगी! लोग क्या कहेंगे, क्या नहीं कहेंगे! गोपियों के छाछ के अगाड़ी नाचते हैं। गोपियाँ प्रेम में मतवाली होकर कहती हैं कि 'लाला नाचो, तब थोड़ा छाछ दूँगी। नाचो तो!' भगवान्

नाचे। भगवान् ने चूं भी नहीं की कि मेरी कितनी बेइज्जती होगी! जिनकी फुरणा मात्र से अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न और लीन होते हैं, ऐसे भगवान् गोपियों के सामने नाचते हैं! तो क्या आज भगवान् बदल गये? यदि हम भी चाहें कि संसार का आश्रय छूट जाय, भगवान् का आश्रय रह जाये, यदि हमारी चाहना पूरी न हो और हम दुःखी होकर रो दें तो भगवान् हमारा दुःख नहीं सहन कर सकते। हमारा संसार का आश्रय छूट ही जायेगा।

प्राप्त और प्रतीति

दो वस्तुएँ हैं—एक तो प्राप्त है और एक है प्रतीति ।

प्राप्त और प्रतीति में फर्क है । जो प्राप्त है, वह तो दिखता नहीं, और जो प्रतीत हो रहा है वह रहता नहीं । उदाहरण लीजिये । जैसे, अपने आप की सत्ता "मैं हूँ" यह जो अपनी सत्ता है, यह प्राप्त है । क्योंकि, समाधि, सुषुप्ति, जाग्रत, स्वप्न, मूर्छित अवस्था में इसका कभी भी अभाव है ही नहीं, परन्तु यह सत्ता दीखती नहीं । इधर शरीर तथा संसार जो दिखाई दे रहा है, इसकी प्रतीति हो रही है, परन्तु वास्तव में है नहीं, क्योंकि ये सब रहते नहीं ।

प्राप्त का कभी नाश होता नहीं । वह सदैव है । वह सबको सदा ही प्राप्त है । क्योंकि जो प्राप्त नहीं है, उसको "है" कैसे कहा जाय ? जो "है" है, वह सदैव ही है । वह सदा ही प्राप्त है, परन्तु प्राप्त की प्रतीति नहीं होती । प्राप्त का ज्ञान इदंता से नहीं होता । जैसे, आँख से संसार दिखता है, परन्तु आँख नहीं दीखती । जिससे दिखाई देता है, वह आँख है । ऐसे ही जिसके प्रभाव से संसार प्रतीत होता है, जिसके आधार पर संसार टिका हुआ है, जो सब का प्रकाशक है, वह प्रकाशक है, तभी सभी प्रकाशित वस्तुएँ प्रकाशित हो रही हैं; जो प्रकाशक है, वह दिखता नहीं ।

'विज्ञातारम् केन विजानीयात्' ? जो जाननेवाला है सबका, उसको कैसे जाना जाय ? आंख देखती है, तो आंख को किससे देखें ? वह सबका जाननेवाला जानने में आता नहीं, किन्तु वह प्राप्त है ।

जो प्रतीति है यानी जो प्रतीत हो रहा है, वह एकरस रहता नहीं; कभी नहीं रहा । इस बात की आपके सामने कई बार पुनरावृत्ति हुई है । जो दीखता है वह प्रतिक्षण बदल रहा है । यह कोई

अपरिचित बात नहीं है, सीधी-सादी सबके प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। दृश्य हरदम बदलता है। वह रहता कहां है ? वह यदि रहता तो बद लता कैसे ? बदले तो रहता नहीं। प्रतीति मात्र बदलती है, रहती नहीं। यह बात हम अच्छी तरह जानते हैं, पर जानते हुए भी मानते नहीं। इसको (प्रतीति को) तो "है" मान लेते हैं। और जिस "है" यानी प्राप्त तत्व से ये सब प्रकाशित हो रहे हैं, जिस "है" के आधार पर ये दिख रहे हैं—जो आधार है, उस "है" को प्राप्त करने में हमने बड़ी कठिनता मान ली। इसको प्राप्त करने में बड़ी कठिनता है! बड़ा आश्चर्य है। अरे वह तो "है" और "प्राप्त" है। वह तो "है" ही। "जासु सत्यता ते जड़ माया, भास सत्य इव मोह सहाया"! जिसकी सत्यता से यह असत् जड़ माया सत्य दीखती है। मूढ़ता के कारण सत्य की तरह दीखती है, सत्य है तो नहीं। मूढ़ता के कारण सत्य भले ही दिखे, पर है नहीं। तो अपने को कैसे दिखे ?

दिखनेवाली इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और दिखनेवाला संसार सब एक जाति के हैं। और इनको जानने वाला और संसार मात्र को जाननेवाला, इनका प्रकाशक और संसार मात्र का प्रकाशक—ये एक जातिवाले हैं। और वह नित्य प्राप्त है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, संसार ये सब नित्य ही अप्राप्त हैं। क्योंकि, प्रतिक्षण बदलते हैं। यह सब बह रहा है। जो बह रहा है, वह टिकेगा कैसे ? वह टिक सकता ही नहीं। प्रत्यक्ष बात है—बचपन था, वह कहाँ गया ? पहलेवाली परिस्थिति कहाँ गयी ? अब नहीं है। तो ये जो प्रतीतियाँ हैं, सब "नहीं" ही "नहीं" में भरती हो रही हैं। परन्तु "नहीं" में भरती हो रहे को जो जानता है, वह "नहीं" में कैसे भरती होगा ? वह तो है ही। यदि वह नहीं हो, तो नहीं को जाने कौन ? जो नहीं में भरती हो रहे हैं, इनको जानने वाला वह "है" है। उसकी प्राप्ति के लिए क्या करें ? कुछ

न करें; क्योंकि, करने से मिलनेवाला उत्पत्ति विनाशवाला होता है। परन्तु 'न करने' का अर्थ क्या हुआ? न करने का अर्थ आलस्य, अकर्मण्यता, प्रमाद नहीं है। कुछ नहीं करने का अर्थ है जो "है" तत्व नित्य प्राप्त है, उसमें स्थित हो जाना। गीताजी ने कहा है कि "आत्मसंस्थं मनःकृत्वा किञ्चिदपि न चिन्तयेत्" (गी० ६।२५)। "आत्मा अतति सर्वत्र गच्छति इति आत्मा"। ऐसा तत्व जो सर्वत्र परिपूर्ण है, उसे ऐसा मानो कि वह सब जगह परिपूर्ण है। ऐसा मान करके कुछ भी चिन्तन न करें।

कहा गया है कि परमात्मा का चिन्तन करोगे तो अपनी स्थिति से नीचे आ जाओगे। अपने से अलग मानने पर ही चिन्तन संभव है। चिन्तन जिसका किया जाय और चिंतन करनेवाला—दो अलग होने पर ही चिन्तन होगा। अतः यह युक्ति ऐसी बढ़िया है कि स्वरूप में स्थित होकर चुप हो जाय। चुप होने से अपनी परमात्मा में स्वतःसिद्ध स्थिति का अनुभव हो जायेगा। क्योंकि "है" तत्व में सबकी स्वाभाविक स्थिति है। व्यर्थ चिन्तन होते रहने से इस स्वतःसिद्ध स्थिति का अनुभव नहीं हो पा रहा है। गीताजी में इस स्वाभाविक स्थिति को (१४।२४ में) "स्वस्थः" पद से बताया गया है। 'स्व' में स्थित है। सभी मनुष्य वास्तव में "स्व" में ही स्थित हैं, परन्तु अपनी स्थिति 'पर' (शरीर) में मानते हैं। "पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते"। कौन-सा पुरुष सुख-दुःख का भोक्ता बनता है? "पुरुष प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्"—प्रकृतिजन्य गुणों का प्रकृतिस्थ पुरुष भोक्ता है। वह गुणों का भोक्ता बनता है, तो सुख दुःखों का भोक्ता बनना पड़ता है। वह सुख-दुःख में सम कब होता है? "स्वस्थ" होने से। स्वस्थ होने में कोई मेहनत पड़ती नहीं। क्योंकि अपने आप स्वतः "स्व" में ही स्थिति है। यहाँ तो जहाँ है वहीं रहना है, अपने से कुछ करना नहीं है। 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चदपि चिन्तयेत्'। एक सच्चिदानन्द

है, ऐसा मान लें। यही स्थित होना है। फिर कुछ भी चिन्तन न करे। जितना इसमें ठहर सको, ठहर जाओ। फुरणा होती है, होने दो, फुरणा तो उत्पन्न और नष्ट होनेवाली है। जो पैदा हुई है, वह नष्ट अपने आप होगी। इस वास्ते उसको सत्ता न दे। पैदा होने के बाद खास काम नष्ट होने का ही है। इसलिए नष्ट होने वाले का क्या ख्याल करें? आ गयी, सो आ गयी। चली गयी सो चली गयी। लहर उठ गयी, शान्त हो गयी। उसमें राजी और नाराजी का क्या सवाल? आयी लहर जाती हुई दीख जावे तो क्या अपराध हुआ? उसको अच्छी और मन्दी समझना ही फंसना है। आयी है, त्यों जाने दो। उपेक्षा करो, उदासीन रहो।

लोग मन को रोकने के लिए बहुत मेहनत करते हैं, पर मन रुकता नहीं। मनकोरोकना नहीं है। इस मन को न तो रोकना है, न कहीं लगाना है। है ज्यूँ छोड़ दो, उपेक्षा कर दो। उदासीन हो जाओ तो आप ही मिट जायेगा। यह स्वतः मिट रहा है। आप से आप मिट रहा है।

तुम इसको मिटाने की क्यों आफत मोल लेते हो, जान-बूझ करके? यह तो बहता है, बहने दो।

भगवान् ने कहीं ऐसा नहीं कहा कि अभ्यास करना चाहिये—मन को वश में करने के लिए। अर्जुन को उत्तर दिया कि अभ्यास और वैराग्य से यह पकड़ा जाता है। अर्जुन ने दो श्लोकों में प्रश्न किया और भगवान् ने दो श्लोकों में ही उत्तर दे दिया। मन की चंचलता के विषय में भगवान् बहुत ही थोड़ा बोले हैं। दो श्लोकों में भी मन के विषय में आधा श्लोक ही कहा है, केवल आधा। आधे श्लोक में अर्जुन की बात का समर्थन किया है। आगे एक श्लोक में कहा कि मन को पकड़ने से कुछ नहीं होता :

"असंयतात्मा योगो दुष्प्राप इति मे मतिः"। जिसका मन असंयत है, उसको योग दुष्प्राप्य है अर्थात् जिसका मन संयत है, उसको योग प्राप्त होता है। 'संयत' का क्या अर्थ है? यही कि कुछ चिंतन न करना, यही संयत है। यत्न करे तो प्राप्त हो जाय। वह यत्न क्या है? उसमें स्थिर रहे तो उस तत्व की प्राप्ति हो जायेगी। जिसका मन असंयत है यानी उच्छृङ्खल है, जिसका मन वश में नहीं है, मानो संसार के भोगों में जिसकी रुचि है, उसके द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है। "वश्यात्मना"—जिसका मन वश में है। वश में करने का अर्थ यह नहीं कि मन को मैं पकड़ लूँ, एक जगह केन्द्रित, एकाग्र कर लूँ। यह वश में करना नहीं है। मन के वश में न होना ही मन को वश में करना है। मन को घोड़े की तरह वश में करने की बात नहीं है। वश में करने का भाव मन से सम्बन्ध-विच्छेद करना है। वश में न होने का अर्थ अभ्यास करके उसको पकड़ने से तात्पर्य नहीं है। उसके कहने के अनुसार कार्य न करने से है। जैसे, 'तयोर्न वशमागच्छेत्'—पदों से राग, द्वेष के वश में न होकर क्रिया न करने के लिए कहा है। मन की दशा देखकर चिन्तित न होवे। वह ज्यों बहे, त्यों बहता रहे। वहता रहे। अपने उससे अलग रहे, तटस्थ रहे। वास्तव में आप उससे तटस्थ ही हैं, परन्तु उसकी चिन्ता करके उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। आप उसके साथ रहते नहीं। वह बदलता है, आप बदलते नहीं। आप अलग हो, वह अलग है। यह तो हुआ—जानना। अब करना क्या है? मन के चंचल होने से आपका क्या बिगड़ गया? क्या हो गया आपको? हैं तो ज्यों के त्यों ही। वह बह रहा है,—यह भी एक तमाशा है। उपेक्षा और उदासीनता, यह बहुत ही बढ़िया उपाय है। वर्षों मन को परमात्मा में लगाने की मेहनत करते हैं, मन लगता नहीं। मन ठीक होता नहीं, ठीक होनेवाला है ही नहीं। आप स्वयं उसको बल देते हो, चंचल बताते हो। आपसे सत्ता पाकर ही चंचल हो बह रहा है। एकान्त में

बैठकर मन को चंचल बनाते हो, पर कहते हो मन को रोकते हैं। कहते हो भगवान् का भजन करते हैं, परन्तु होती है संसार की याद। कहते हो भजन करते हैं, झूठ बोलते हो। कर रहे हो संसार की याद। घंटे भर बैठे उसमें भगवान् को कितनी देर याद किया? कह सकते हैं कि हम तो भगवान् को ही याद करते हैं, पर संसार याद आता है। जबरदस्ती याद आता है, तो एक बात बड़ी शान्ति से समझने की है। आपसे आप आपको जो याद आवे, उसकी जिम्मेवारी आप पर है क्या? तो जो आपसे आप याद आता है, उसमें आप मुफ्त में ही उलझते क्यों हो? फुरनी आपसे आप उत्पन्न हो जाती है। वह आपसे आप नष्ट हो जाती है। वह तो उठते ही उड़ गयी, आप क्यों आफत में पड़ो? देखो, करने पर मनुष्य की जिम्मेवारी होती है। करते नहीं, फिर भी जो होता है उसकी जिम्मेवारी आप पर नहीं है। आप जवान से बूढ़े हो गये, आप पर जिम्मेवारी आयी क्या, कि जवान से बूढ़े क्यों हो गये?

इसलिए जो संसार की याद हमने नहीं की, अपने आप जो याद आती है, उसकी जिम्मेवारी हमारे पर नहीं है। संसार का चिन्तन यानी उसकी याद कौन करता है? जो स्वतः आनेवाली संसार की याद को मिटाने के पीछे पड़ जाय। आप उनको मिटाने की सोचकर सत्ता दे रहे हो। वह तो स्वतः मिटता ही जा रहा है। बात यही है कि कुछ चिन्तन न करे। भगवान् कहते हैं कि 'न किञ्चदपि चिन्तयेद्'—मैं थोड़े ही कहता हूं! कुछ भी चिन्तन न करे, तो स्वतः ठीक हो जायगा। अपने आप चिन्तन न करे, फिर भी यदि चिन्तन आ जाय, तो जैसे तरंग उठी है, वैसे ही शान्त हो जायेगी। आप उसमें कुछ दखल न करें। यह बहुत बढ़िया युक्ति है।

हमें बहुत वर्षों के बाद यह युक्ति मिली है। तो इस युक्ति को अभी ही काम में ले लो। मन की उपेक्षा कर दो। बस, ठिकाने

आ गये। मन के साथ मिलकर उसको लगाना अथवा एकाग्र करना, यह इतना बढ़िया उपाय नहीं है। कारण कि उसको सत्ता मिलेगी, महत्त्व दिया जावेगा। जिसको हटाते हो, मिटाते हो, तो उसको "है" मानना हो गया। वास्तव में वह 'है' नहीं।

जो चिन्तन हमारे न चाहने पर होता है, वह भूतकाल का होता है या भविष्यत् काल का होता है। वर्तमान का चिन्तन नहीं होता है। न भूत है, न भविष्यत् है। दोनों "नहीं" ही हैं, क्योंकि जो भूत का है, वह तो किसी बीती हुई घटना का चिन्तन है, बीती हुई घटना अब है नहीं। जो भविष्यत् का चिन्तन है, वह किसी होने वाली घटना या परिस्थिति का चिन्तन है, वह भी वर्तमान में है नहीं। "नहीं" को "है" मानकर उनका चिन्तन करते हैं। "है" ही नहीं, उसको "है" मान लिया, यही तो गल्ती है। और "है" मानकर उसको मिटाते हो, तो यह मिटाना नहीं हुआ। यह तो उसको दृढ़ करना हुआ। वह "है" ही नहीं। वह तो घटना कभी बीती थी, अब तो है नहीं। आगे भले होगी, अभी है ही नहीं। और है ही नहीं, उसमें फंस गये।

जो परमात्मा नित्यप्राप्त है, उसकी तरफ वृत्ति नहीं। उसको तो मानते नहीं और जो नहीं है, कभी रहता नहीं, उसको पकड़ते हो, उससे युद्ध करते हो। वर्तमान तो केवल परमात्मा ही है, उसको तो मानते नहीं और जो वास्तव में है ही नहीं, उसको मान लिया। उसको लम्बा कर लिया। वर्तमान काल की सत्ता ही नहीं। वर्तमान एकमात्र परमात्मा ही है। भगवान् कहते हैं "वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन, भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन (गी० ७।२६)। इस श्लोक से सिद्ध होता है कि भगवान् के लिये सब वर्तमान ही है; क्योंकि भगवान् सर्वकाल में हैं। जैसे सिनेमा की रील में सब दृश्य वर्तमान ही है, परन्तु दर्शकों को ऐसा मालूम देता है कि यह दृश्य आ लिया, यह दृश्य

सामने है। और दृश्य आगे आनेवाले हैं। इसलिए भगवान् के लिए भूत भविष्यत् वर्तमान वर्तमान ही है। हमारी दृष्टि से भूत वर्तमान भविष्यत् है। वर्तमान तो भगवान् ही है। अतः भगवान् का चिन्तन ही सार है।

वर्तमान तो भगवान् ही है। जो सत्ता रूप से है, वह केवल परमात्मा ही है। मन की फुरना आदि बेचारी की सत्ता कहाँ है? परमात्मा ही है सदा। अब उसका चिन्तन क्या करें! वह तो है सदा, उसमें डूबे हुए हैं पूरे। गहरे डूबे है उसमें। तो, 'नहीं' में न डूबे, 'है' में बैठा रहे। 'हैं' तो है ही। वे हमारे हैं, हम उनके हैं। वे हमारे हैं, हमारे में हैं।

'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'—'है' को जानना है। अब करना क्या है? "है" वह 'है' ही। सदा ही प्राप्त है। प्रतीति कभी प्राप्त होती ही नहीं। इसलिए 'है' की प्राप्ति नित्य-प्राप्त की प्राप्ति कही गयी है। ऐसी सुगम कोई वस्तु है ही नहीं। बताओ कठिनता क्या हुई? है उसमें कोई कठिनता? सुगम भी तो तब कहा जाता है, जब कुछ करना पड़े। जब कुछ करना ही न पड़े, तब उसको सुगम भी कैसे कहें? कठिन माना, इसलिए कठिनता के भाव को दूर करने के लिए सुगम कहते हैं। सुगम कहना बने कैसे? कुछ करना पड़े, तब तो सुगम कहा जावे! है ज्यों का त्यों है, सदैव प्राप्त है। पर कठिन माना, इसलिए उसे सुगम कहा।

इस पर दृढ़ रहना है कि वह है, सदा ही है, सदा ही प्राप्त है, कितनी ही उथल-पुथल हो जाय, वह 'है' ज्यों का त्यों रहता है। जिसमें उथल-पुथल होती है, वह प्रतीति है, वह कभी रहती नहीं, बनती है, बिगड़ती है, बह रही है! आप ही आप जा रही है। "है" सदा ही है। वह रहता है।

अतएव सदा रहनेवाला हुआ 'प्राप्त' और बहनेवाली हुई 'प्रतीति'। प्रतीति की ओर उदासीन रहे और नित्य प्राप्त "है" तत्व सदा ही है—ऐसा निश्चय रखे।

३. अहंकार कैसे मिटे ?

मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है। यह मान्यता रखना ही खास भूल है। मूल भूल है कि शरीर मैं हूँ। आप विचार करो कि शरीर मिला है। मिली हुई चीज अपनी नहीं होती। अपनी चीज सदैव अपनी ही रहती है, कभी बिछुड़ती नहीं। पहले से अन्त तक अपनी ही रहेगी और जो मिली है, वह छूट जाती है, सदैव साथ नहीं रहती। ऐसी मिली हुई वस्तु 'मेरी' कैसे हुई और 'मैं' कैसे हुई ?

स्वयं पहले था और स्वयं पीछे रहेगा। बीच में शरीर मिला तो शरीर स्वयं कैसे हुआ ? यह खास बात है, इसमें कोई शंका आप को हो तो कहो। आपको कुछ विपरीत दीखता हो तो कहो। शरीर मिला है। गीताजी में 'क्षेत्र' के नाम से शरीर के स्वरूप का (१३।५ में) वर्णन हुआ है।

महाभूतान्यहंकारो........सविकारमुदाहृतम् (१३।५-६) इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते (१३।१)। 'इदंता' से दीखने वाले शरीर को 'क्षेत्र' कहा है। इसको जाननेवाले को इसी श्लोक में 'क्षेत्रज्ञ' कहा है। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र दो चीजें हैं। जैसे, मैं खम्भे को जानता हूँ, तो खम्भा जानने में आनेवाली चीज हुई और मैं खम्भे को जाननेवाला हुआ। जाननेवाला, जानने में आनेवाली वस्तु से भिन्न होता है—यह नियम है। मैं शरीर को जानता हूँ, इससे स्पष्ट हुआ कि शरीर मेरे से अलग है। हम जब कहते हैं—यह मेरा पेट है, यह मेरा पैर है, यह मेरी गर्दन है, यह मेरा मस्तिष्क है, मेरी इन्द्रियाँ हैं, मेरा

मन है, मेरी बुद्धि है। अपने से अलग को ही 'मेरा' कहा जाता है। अतः ये सब हमसे अलग हुईं। वास्तव में विचारा जाय तो 'अहम्' यानी मैं 'पन' भी इदम् ही है, क्योंकि अहम् भी जिस प्रकाश में संसार दिखाई देता है, उसी प्रकाश में यह भी दिखाई देता है। जिस प्रकाश में शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-प्राण इदंता से दिखाई देते हैं, उसी सामान्य प्रकाश में अहं भी इदंता से दिखाई देता है। दीखनेवाला अपना स्वरूप कैसे हुआ ? अहम् भी अपना स्वरूप वास्तव में नहीं है।

शरीर नहीं हूँ---इस बात को दृढ़ता से मान लो। मैं न कभी शरीर था, न कभी शरीर हो सकता हूँ, न शरीर रहूंगा। न अभी वर्तमान में मैं शरीर हूँ, मैं इससे बिल्कुल अलग हूं। इसकी पहचान क्या है कि मैं शरीर से अलग हूँ ? यदि शरीर से मेरी एकता होती तो चाहे तो मरने पर शरीर मेरे साथ चला जाता अथवा शरीर के साथ मैं भी रहता। पर न तो मैं शरीर के साथ रहता हूँ और न मेरे साथ शरीर जाता है। इस परिस्थिति में शरीर के साथ मेरी एकता कैसे हुई अर्थात् मैं शरीर कैसे हुआ ?

मकान और मैं अलग अलग हूँ। मकान से मैं बाहर चला जाता हूं, तो मकान मेरे साथ नहीं जाता। मकान यहीं रहता है, मैं बाहर चला जाता हूं। तो इससे सिद्ध हुआ मैं मकान के साथ नहीं रहता। यानी मैं और मकान दो हैं, एक नहीं। इसी प्रकार शरीर और मैं दो हैं। ऐसा ठीक बोध होने पर अहंकार मिट जाता है और अहंकार मिटने पर मैं और शरीर, ये दोनों अलग-अलग दिखाई देते हैं।

मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है शरीर मेरे लिए है। ये तीन खास भूलें हैं। न तो मैं शरीर हूँ, न शरीर मेरा ही है और न शरीर मेरे लिए ही है। मेरे लिये शरीर हो ही नहीं सकता;

क्योंकि, मैं नित्य निरन्तर रहने वाला और यह नित्य निरन्तर बदलने वाला। यह शरीर बदल रहा है, जा रहा है, वियुक्त हो रहा है प्रतिक्षण, यह मेरे लिये कैसे हो सकता है? कोई एक भी ऐसा क्षण नहीं, जिस क्षण में यह शरीर वियुक्त न होता हो।

मनुष्य मानता है कि जब शरीर मर जाता है, तब शरीर का वियोग होता है। इसलिए जन्म से मृत्यु तक हमारा रहा। यह बहुत स्थूल बुद्धि से मान्यता है। बारीकी से देखा जाय तो जो शरीर १०० वर्ष तक रहनेवाला है एक वर्ष का बालक होने पर तो वह अब ९९ वर्ष ही रहनेवाला रहा। दृष्टि होती है कि बालक बढ़ रहा है, बिल्कुल गलत है, बालक मर रहा है। अपने भी सोचते हैं कि हम बढ़ रहे हैं, हम जी रहे हैं। यह बिल्कुल झूठी बात है। सच्ची बात तो यह है कि हम मर रहे हैं। प्रतिक्षण मर रहे हैं। हम मानते हैं कि मरने के बाद शरीर से वियोग हो जाता है। वास्तव में वियोग प्रतिक्षण हो रहा है। हर दम वियुक्त होनेवाला शरीर हमारे लिए कैसे हो सकता है? हमारा कैसे हो सकता है? और हम कैसे हो सकता है?

अब विचार करें कि मेरा पूरा आधिपत्य शरीर पर चलता है क्या? अगर चलता है तो इसको बीमार न होने दो, कमजोर न होने दो, कम से कम मरने तो न दो। हमारा आधिपत्य नहीं चलता तो हमारा कैसे हुआ?

बालकपन में जो मैं था, वही अब भी हूँ। अपना निरन्तर होना वैसा का वैसा दीखता है और शरीर बदलता है। बदलने वाला शरीर मैं कैसे हुआ? मैं नित्य निरन्तर रहनेवाला, शरीर नित्य निरन्तर ही बदलने वाला। वह शरीर मेरे लिए कैसे हुआ? मेरे लिए तो वही हो सकता है जो सदैव मेरे साथ रहे। मेरे काम

आ जाय। पर यह मेरे साथ रहता नहीं, मेरे काम आता नहीं। तो यह मेरे लिए कैसे हुआ ?

शरीर की संसार के साथ एकता है। क्षिति जल पावक गगन समीरा—जिन पाँच तत्वों से यह शरीर बना है, उन्हों से सारा संसार बना है। शरीर की और संसार की एक जाति है। यह संसार का एक अंग है। शरीर हमको मिला है संसार की सेवा के लिए। अपने लिए शरीर कैसे हुआ ? शरीर हमारे को क्या निहाल करेगा ? हम शरीर को अपना तथा अपने लिए न मानकर संसार का मानकर संसार की सेवा में लगा दें। इस प्रकार संसार की वस्तु संसार के काम में लगा देने से इससे हमारा सम्बन्ध विच्छेद हो जायेगा। इससे माना हुआ सम्बन्ध टूट जायेगा। शरीर से मैंपन मिट जायगा।

आपकी एक शंका है। आप कह सकते हैं कि इस शरीर से हम भगवन्नाम जप करते हैं, इससे ध्यान लगाते हैं, चिन्तन करते हैं, इससे सेवा करते हैं, तो यह शरीर किसके काम आया यानी हमारे ही तो काम आया ? हम जप ध्यान करते हैं, तो भगवान् की प्राप्ति होगी, भगवान् के दर्शन होंगे। तो इस प्रकार शरीर हमारे काम आया। आप थोड़ा गहरा विचार करें—वास्तव में शरीर आपके काम नहीं आया। शरीर से मेरापन मिटा है। भजन ध्यान करने से अन्तःकरण शुद्ध हो गया। शुद्ध अन्तःकरण में यह ज्ञान जाग्रत हुआ कि मैं शरीर नहीं हूँ तथा शरीर मेरा नहीं है। आप ज्यों के त्यों हैं। आपके शरीर क्या काम आया ? शरीर की शुद्धि हुई। शुद्धि होने से मैंपन, मेरापन मिटता है। मैंपन और मेरापन यह अशुद्धि है। गीता (५।११) में 'कायेन……शुद्धये' में श्री भगवान् ने कहा है कि योगी लोग अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। केवलैः -पद श्लोक में आया है।

केवलः-पद इन्द्रिय, मन, बुद्धि, काया—सबके साथ लगेगा। केवलेन कायेन केवलेन मनसा केवलया बुद्धया केवलैः इन्द्रियैः। केवल कहने का मतलब इनके साथ अपना सम्बन्ध न मानना है। इनके साथ-साथ अपनापन अशुद्धि है। रामायण में 'ममता मल जरि जाय' ऐसा आया है। ममतारूपी मल है।

हम बहुत वर्षों से जप ध्यान करते हैं और मन शुद्ध नहीं होता, क्या कारण है? उसमें मेरापन है, यह मान्यता रखते हैं। यह मान्यता पकड़ी हुई है। मन को शुद्ध करना चाहते हो, पर मेरापन छोड़ते नहीं। मेरापन रखना ही अपवित्रता है। जप ध्यान अपने लिए मानते हो! ऐसा मानते हो कि जप-ध्यान करें तो हमारा कल्याण होगा। नाम-जप से, कीर्तन से, भजन-ध्यान से अन्तःकरण शुद्ध होगा। तब यह बात समझ में आ जायेगी कि ये 'मैं' नहीं, ये'मेरे' नहीं।

शरीर मेरा नहीं है, शरीर मैं नहीं हूँ, फिर आप के लिए शरीर कैसे हुआ? आप तो शरीर-मन-बुद्धि से सदैव अलग ही हैं। अपने लिए मानते रहने से सम्बन्ध जुड़ता है। परमात्मा का हम चिन्तन करते हैं; मन बुद्धि से ही चिन्तन करेंगे। मन बुद्धि प्रकृति के हैं कि आपके? तो भगवान् के चिन्तन में आप पराधीन हो गये। प्रकृति 'पर' है, आप स्वयं 'स्व' हो। 'पर' का सहारा लेना पड़ा, तो आप पराधीन हुए। ध्यान करो तो जड़ का सहारा लेना पड़ेगा। समाधि लगाओ तो जड़ का सहारा लेना पड़ेगा। पर जड़ के द्वारा चेतन की प्राप्ति होती नहीं। चेतन की प्राप्ति जड़ के त्याग से होती है। जड़ता के त्याग से चिन्मयता में हमारी स्थिति होगी। जड़ता का आश्रय लेंगे, जड़ता की आवश्यकता समझेंगे तो, जड़ चीजों से, शरीर आदि से सम्बन्ध विच्छेद कैसे करेंगे? जब इनका

त्याग करने से ही कल्याण होगा, तो ये हमारे क्या काम आये ? इनका त्याग ही हमारे काम आया। वह आज ही कर दें तो कितना अच्छा हो !

ठीक तरह से समझें इस बात को कि शरीर हमारे लिए कैसे हुआ ? इसलिए भजन-ध्यान करो, दान-पुण्य करो, सेवा करो, सब कुछ करो शरीर से, पर अपने लिए नहीं। ये सब चीजें कल्याण करने वाली हो जायेंगी। कब ? जब इस भाव से करोगे कि ये सब मेरे नहीं, मेरे लिए नहीं। प्रश्न उठता है कि फिर करते क्यों हो ? दूसरों से हमने लिया है,—इसलिये। शरीर भी दूसरों से मिला है, अन्न जल दूसरों से मिलता है, हवा भी हमारे जीने के लिए मिलती है, राह सड़क औरों से मिली है, छाया, मकान सब चीजें औरों से मिली हैं। मिली हुई चीज जिनसे मिली है, उनकी सेवा में लगा देना है—कर्जा उतारने के लिए। आगे कर्जा लेना नहीं है। अपना मानकर अपने लिए चाहते रहने से कर्जा चढ़ता रहेगा। इसलिए नया कर्जा करना नहीं है।

शरीर हमारे काम आ जाय, यह इच्छा रहेगी, तो यह आपके कैसे काम आयेगा ? आप चेतन हैं, जड़ शरीर आपके काम कैसे आयेगा ? तो हम क्या करें ? जड़ता से माना हुआ सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध को छुड़ाने के लिए सेवा करें। भजन-ध्यान करें, जप करें, समाधि लगायें, परन्तु अपने लिए नहीं। अपने लिए मानते रहने से व्यक्तित्व बना रहता है। श्रुतियों में "ब्रह्मणे स्वाहा इदं न मम" आता है। "इदं न मम" पद देने का तात्पर्य है कि यह हवि हमारे लिए नहीं है अर्थात् यज्ञ के साथ अपना सम्बन्ध विच्छेद कर देना। श्री गीताजी में भी "दातव्यमितियद्दानं दीयते अनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतं" (१७।२०) इस श्लोक में 'अनुपकारिणे' पद देकर अपने लिए किञ्चित् मात्र भी न चाहने का लक्ष्य कराया है।

इस श्लोक पर जरा विचार करें तो आपको व्याकरण की एक आश्चर्य की बात बताता हूँ। "अनुपकारिणे" पद में चतुर्थी विभक्ति दी है और देशे काले च पात्रे में सप्तमी विभक्ति दी है। इसका क्या तात्पर्य है? पात्रे च में तो कम से कम सप्तमी नहीं कहनी चाहिये थी। 'पात्राय' होना चाहिये, सप्तमी कैसे हो गयी वहाँ? इसका तात्पर्य क्या है, पूरा तो भगवान् जाने और व्यास जी महाराज जानें, अपने को पता नहीं। हम तो कोई विद्वान् हैं नहीं, परन्तु हमारी धारणा में देशे काले च पात्रे च कहने में देशे काले प्राप्ते सति अर्थात् देश काल पात्र के प्राप्त होने पर अनुपकारिणे दीयते। अनुपकारिणे का अर्थ यह नहीं है कि अपना उपकार करने वाले को न दिया जाय। अनुपकारिणे का अर्थ जिसनें उपकार कर दिया, उसको तो मत दो बिल्कुल भी;—यह अर्थ नहीं है। उपकारी को जो दिया जाता है, उसकी 'दान' संज्ञा नहीं होती। यहाँ दान की बात है तो अनुपकारी का अर्थ हुआ कि जिससे पहले उपकार लिया नहीं, वर्तमान में लेते नहीं और भविष्य में कभी लेने की इच्छा किञ्चित् मात्र भी न हो, दान हमारे लिए न हो। अनुपकारिणे का अर्थ हुआ हमारे लिए न हो।

उपकारी किसका नाम है? और अगाड़ी उपकार करे तो वह उपकारी होता है कि नहीं? अभी करते हैं तो उपकार होता है कि नहीं तो वह कभी उपकारी न हो। यह अर्थ लेना पड़ेगा। न तो उपकार किया है, न उपकार करता है, न उपकारी की आशा है। उपकारी को दिया जाय तो वह सात्विक दान नहीं होगा। वह दान राजस होगा। 'यत्तु प्रत्युपकारार्थं'..........क्योंकि दान से सम्बन्ध जोड़ लिया। "रजो रागात्मकं विद्धि"। राग क्या है? सम्बन्ध जोड़ना है, अतः उपकार की आशा रखकर देना सात्विक दान नहीं। बाँधने वाला दान है। यद्यपि भगवान ने १७।२० में वर्णित दान को सात्विक दान कहा है,

परन्तु वास्तव में यह दान नहीं, यह त्याग है। क्योंकि यह देश काल पात्र के प्राप्त होने पर, अपना सम्बन्ध न रखते हुए, दिया जाता है।

ऐसे ही जप-ध्यान का सम्बन्ध भी हमारे साथ न रहे। सेवा का भी सम्बन्ध हमारे साथ न रखें। यदि सेवा करके हम समझते हैं कि हमने बड़ा काम किया, तो गल्ती करते हैं। उसी का हक लगता है। हमारे पास शक्ति है, यह समष्टि की शक्ति है। समष्टि से अधिक अलग कोई योग्यता शक्ति आपके पास है क्या ? विद्या बुद्धि योग्यता कुछ भी परिस्थिति जो आपको प्राप्त है, वह आपको समष्टि से मिली है। समष्टि की चीज समष्टि की सेवा में लगा दी तो क्या अहसान किया ? उसी की चीज उसी के काम में लगा देना ईमानदारी है। अपने लिए लगाते हो तो अहंकार आवेगा। मैंपन है, तो मेरापन आवेगा। मेरे लिए आवेगा।

न तो यह मैं हूँ, न मेरे हैं, न मेरे लिए है। 'यह' करके जिसको कहते हैं, वह 'मैं' कैसे हुआ ? 'यह' 'मैं' नहीं होता। 'मैं' होता है, वह 'यह' नहीं होता। शरीर यह है, मन यह है, बुद्धि यह है, प्राण यह है। मैंपन यह है। तो ये सब हमारा स्वरूप कैसे हुए ? न तो मैं हूँ। न ये मेरे हैं। खूब सोचो इसे समझने के लिए।

आपने किसी को पढ़ाया। किसी को आपने शिष्य बनाया। गायत्री मन्त्र दिया आपने, तो वह आपका शिष्य हो गया और आप उसके गुरुजी हो गये। गुरु और शिष्य दो हुए। अब तीसरा दोनों का आपस का सम्बन्ध हुआ। यह सम्बन्ध एक अलग सत्ता हो गयी। यह सम्बन्ध ही घपला हो गया। यह सम्बन्ध ही जन्म-मरण का कारण है। अतः जड़ता से सम्बन्ध विच्छेद जल्दी से जल्दी कर लेना चाहिये। जड़ता से सम्बन्ध विच्छेद होना ही अहङ्कार का मिटना है।

---

४. संसार में रहने की असली विद्या
यानी व्यवहार में परमार्थ की कला

हमारे मन में यह बात आयी है कि संसार में अगर रहना आ जाय तो हमारी मुक्ति हो जाय। संसार में रहना एक विद्या है। उस विद्या को ठीक समझ लें और काम में लावें तो बेड़ा पार है। किसी भी काम में लगो। उस काम को करने की विद्या आनी चाहिये और काम करना चाहिये। जैसे, रसोई बनाना है। रसोई बनानी तो आती है, पर रसोई बनाता नहीं तो रसोई नहीं बनती। और रसोई बनाता है, पर रसोई बनानी नहीं आती, तो रसोई बढ़िया नहीं बनती। इसलिए किसी भी कार्य में ज्ञान और कर्म दोनों की आवश्यकता है।

संसार में रहने की विद्या क्या है? इसको समझना है। मान लीजिये कि एक मनुष्य है, जिसके माता-पिता, भाई-भौजाई, स्त्री-पुत्र आदि हैं। उनके साथ केवल उनके हित के लिए ही व्यवहार करे। केवल उनकी ही सेवा करे। केवल उनको सुख ही पहुंचावे। अपने सुख की किञ्चित्मात्र भी इच्छा न रखे। जो अपने सुख की इच्छा करता है, उसे संसार में रहने की कला आयी नहीं। आप अपने कुटुम्ब में रहते हैं तो कुटुम्ब की सेवा करते हैं। बाहर चले जाते हैं तो सेवा नहीं करते, बल्कि सेवा लेते हैं। कोई हमें मार्ग बता दे, हमारी सहायता कर दे, हमको रहने को जगह दे दे। हमें जल पिला दे, कोई हमको कुछ दे देवे, जिससे हम अपनी यात्रा ठीक कर लेवें। इस प्रकार सेवा चाहते रहने से हमारा कल्याण नहीं होता, उद्धार नहीं होता। हम किसी से कुछ भी

चाहते हैं, तो पराधीन हो जाते हैं। यह पक्का सिद्धान्त है। जब हम कुछ नहीं चाहते, तब हम बिल्कुल पराधीन नहीं होते। बिल्कुल स्वाधीन होते हैं। संसार से कुछ भी चाहना अपने आपको पराधीन बनाना है। संसार हमसे बहुत कुछ चाहता है। अगर हम उसकी चाह पूरी करते हैं तो हम स्वाधीन हैं। अपनी चाह तो रखें नहीं, दूसरों की न्याययुक्त चाह अपनी शक्तिसामर्थ्य के अनुरूप पूरी करें। हम नहीं चाहते तो उनकी चाह क्यों पूरी करें? उनकी चाह पूर्ति करने से अपनी चाहना के त्याग की सामर्थ्य आ जाती है। अपने स्वार्थ की ही बात करते रहोगे, तो अपनी चाह के त्याग की सामर्थ्य नष्ट हो जायेगी। हम दूसरों की सहायता-सेवा करते रहें तो हम स्वतन्त्र हो जायेंगे। संसार में रहकर स्वतन्त्र होना ही संसार से ऊँचा उठना है। यही मुक्ति है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्येस्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

(गीता ५।१९)

जिसका मन साम्य अवस्था में स्थित हो गया है, उन पुरुषों ने यहाँ ही जीवित अवस्था में संसार को जीत लिया। साम्यावस्था क्या है? अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति मिलने पर उनमें सुख-दुख न हो। हर्ष-शोक न हो। ससार की कोई भी परिस्थिति हमें डिगा न सके तो हमने विजय प्राप्त कर ली। यदि संसार की अनुकूलता और प्रतिकूलता ने हम पर असर कर दिया तो हम हार गये। यह असर कब नहीं करेगी? जब कि हम संसार में अपने लिए नहीं रहेंगे। संसार के लिए ही हम संसार में रहेंगे। इस प्रकार रहने से संसार से ऊँचे उठ जायेंगे।

हमारे माता पिता हैं, तो हम माता पिता की सेवा करें। उनसे चाहना न रखें। उनसे चाहना क्यों नहीं रखें? उनका दिया हुआ ही शरीर है, सामर्थ्य है। जो कुछ हमें मिला है, उन लोगों से ही मिला है, तो उन लोगों के लिए काम करना है। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं। अपने को जिन्होंने शरीर दे दिया, समझ दी, योग्यता दी, उनकी दी हुई वस्तु द्वारा केवल उनकी सेवा ही करनी है अर्थात् उनसे मिली हुई वस्तु उनको ही दे देनी है। तो देने के लिए ही हमें रहना है; हमारे लिए नहीं रहना है। हमारे लिए हम नहीं रहेंगे, तो वे हमारे साथ अच्छा व्यवहार करें अथवा बुरा व्यवहार करें, उसका हम पर असर नहीं पड़ेगा। क्योंकि हम अच्छे बर्ताव के लिए वहाँ रहते नहीं। हम अपने लिए नहीं रहते। उनकी सेवा कैसे हो जाये, उनको सुख कैसे पहुँचे, उनका हित कैसे हो, उनका उद्धार कैसे हो, उनको आराम कैसे पहुँचे,—यही भाव रखना है। इस प्रकार करने से हम दुखी हो जायेंगे—ऐसा प्रश्न उठ सकता है। परन्तु हम दुःखी तभी होंगे, जब उनसे कुछ चाहेंगे और वे नहीं करेंगे। हम चाहें नहीं और वे करें नहीं तो दुःखी कैसे होंगे? यदि हम चाहते हैं और वे नहीं करते तो दुःख होता है। हम तो केवल उनके सुख के लिए रहते हैं। उनके भले के लिए, आराम के लिए ही रहते हैं। उनको सुख पहुँचाना ही हमारा काम है।

कहते हैं कि हम जिनकी सेवा करें, वे यदि दुःख पहुँचावे, तो हम क्या करें?

वे दुःख पहुँचावें, तो हमारा बहुत शीघ्र कल्याण होगा। हम सेवा करके अपना कल्याण करते हैं और वे दुःख देते हैं तो दुःख देने से हमारे पापों का नाश होगा। पापों का नाश होकर अन्तःकरण निर्मल होगा। सेवा करने से त्याग होगा। हमको दूना

लाभ होगा। उनको सुख कैसे पहुँचे, इसके लिए ही संसार में रहते हैं,—यह है हमारा कर्तव्य। चाहना हमारा कर्तव्य नहीं। हमारा कर्तव्य तो उनकी चाहना पूरी करना है।

चाहना के पूरी करने में दो बातों का ध्यान रखना है। एक तो उनकी चाहना अन्याययुक्त तो नहीं है, यानी चाहना न्याययुक्त हो। दूसरे, हमारी सामर्थ्य के अनुरूप हो। उनकी चाहना न्याययुक्त हो, परन्तु हमारी सामर्थ्य के बाहर की बात हो तो हाथ जोड़ के उनसे क्षमा मांग लें कि भाई, हम तो समर्थ नहीं हैं, हमारे पास इतनी शक्ति नहीं है, इसलिए आप क्षमा करो। यदि सामर्थ्य हो तो उनकी चाह पूरी कर दे। इस प्रकार संसार में जल में कमल के पत्ते की भाँति रहे। कमल का पत्ता जल में रहते हुए जल से भीगता नहीं। मोती की तरह ऊपर लुढ़कता रहता है, भेदन नहीं होता। जैसे कपड़ा भीग जाता है, ऐसे वह भीगता नहीं। ऐसे ही हम अपने लिए न रहकर केवल सेवा के लिए रहें तो हम भींगते नहीं यानी संसार में फंसते नहीं। केवल उनके लिए ही रहें, अपने लिए रहें ही नहीं। अपने लिए कुछ भी न चाहें। कहते हैं कि कमल के पत्ते को पानी तो जल में ही मिलता है, आपके शरीर का निर्वाह भी आपके शरीर से ही होगा, परन्तु केवल सेवा करने के लिए निर्वाह मात्र होना चाहिये। परन्तु हमारी क्रियाएँ हमारे लिए न हों। उनसे मिली हुई चीज उनको ही देते रहें। हम लेने की इच्छा का कतई त्याग कर दें। तो सेवा करने से पुराना ऋण उतरेगा और आगे नहीं चाहेंगे तो नया ऋण नहीं पैदा होगा। उनकी सेवा नहीं करेंगे तो उनका ऋण हमारे पर रहेगा और उनसे चाहते रहे, तो नया ऋण हम पर चढ़ता रहेगा।

कोई आदमी मर जाता है, तो उसकी मृत्यु पर दुःख होता है। उस दुःख में दो कारण होते हैं। उनसे सुख लिया है, सुख दिया

नहीं है और फिर सुख लेने की आशा रही है। तब उनके मरने से दु:ख होता है। हमने यदि उनसे सुख न लिया होता, तो उनके मरने से दु:ख न होता। जो हमारा अपरिचित है, हमारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वह मरता है तो उसके मरने का हमें दु:ख नहीं होता। आगे सुख लेने की आशा न रहे तो भी दु:ख नहीं होता। जैसे बहुत बूढ़ा आदमी ९० या १०० वर्षों का मर जाय, तो उसकी मृत्यु का दु:ख नहीं होता। लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि उसका मरण विवाह जैसी बात है, बड़े आनन्द की बात है। कारण क्या है ? अब उससे सुख की कोई आशा नहीं रही। किसी तरह वह हमारी सेवा करेगा, हमारा हित करेगा, ऐसी आशा नहीं रही। इसलिए दु:ख नहीं होता। जवान उम्र का यानी २०-२५ वर्षों की आयु का व्यक्ति मर जाता है, तो दु:ख होता है। क्योंकि उससे आशा बांध रखी है कि सुख मिलेगा। तो "आशा ही परमं दु:खं।" दुखों का खास कारण आशा है और "नैराश्यं परमं सुखम्"। दु:ख और सुख दोनों में 'परम' शब्द दिया है। 'आशा हि परमं दुखम्, नैराश्यं परमं सुखं।' तो उससे आशा न रख करके उसकी आशा पूर्ण करने का उद्योग रखे। यही चेष्टा रखे। उससे आशा न रखने से उसकी मृत्यु का दुख नहीं होगा। २५ वर्ष का मरता है, उससे आशा रहती है। उससे भी आशा न रहे तो उससे भी दु:ख नहीं होता। मानो १५ वर्ष की उम्र से बीमार हुआ और २५ वर्ष का हो गया। वैद्यों ने, डाक्टरों ने जवाब दे दिया कि जीने वाला नहीं है। अब जी नहीं सकता। यह तो अब मरेगा। हमने १० वर्ष सेवा कर दी, लिया कुछ नहीं। लेना कुछ है नहीं, तो उसके मरने पर दु:ख नहीं होगा। तो दु:ख मरने का नहीं है, वियोग का नहीं है, दु:ख तो उससे सुख चाहते हैं उसका है। संसार में हम रहें, संसार से हम सुख न चाहें और सुख देते रहें, सेवा करते रहें। सेवा लेने की चाहना बिल्कुल भीतर

से उठा दें तो संसार में रहना हमें आ गया। हम मुक्त हो गये।

लेनेकी इच्छा ही बन्धन है। उल्टी बुद्धि हो गयी कि हमें सेवा मिल जाय तो हम सुखी हो जांयेंगे। कोई हमारी सेवा करेगा, तो हम सुखी हो जायेंगे। यह उल्टी बुद्धि विपरीत बुद्धि हो गई। लेगें तो ऋणी हो जायेगें, सुखी कैसे हो जायेगें ? ऋण चढ़ जायेगा। ऋणी आदमी की मुक्ति नहीं होती। पापी की मुक्ति हो जाती है, ऋणी की मुक्ति नहीं होती। ऋणी तो कर्जदार माफ करे तभी मुक्त हो। संसार के ऋणी रहते हैं, तब तक मुक्ति नहीं होती। तो इससे उऋण हो जाय। सेवा ली है, तो बदला चुका दे। वे जो सेवा चाहते हैं, वह सेवा कर दे। तो कहते हैं, वे ऋणी हो जांयेंगे। उनके ऋणी होने से हम बन्धन में नहीं पड़ेंगे। कोई वैश्य भाई दुकानदार दुकान उठाना चाहता है तो दूसरों से लिया है वह दे दे और उसने जिसको दिया है, वह दे दे तो ठीक है, नहीं दे तो छोड़ दे। तो दुकान उठ जायेगी। वह पूरा का पूरा दिया हुआ लेना चाहेगा तो दुकान उठेगी ही नहीं। क्योंकि, पुराना लेने के लिए नया कुछ माल देना पड़ेगा। फिर हमारा उसमें बाकी रहता ही रहेगा। पूरा लेकर कभी भी उठा नहीं सकते। ऐसे ही संसार से पूरा लेकर उऋण नहीं हो सकते।

लेने का खाता ही उठा दे। तब देना ही देना रहा। सबको दे दे। माता-पिता को देना है। भाई भौजाई को भी देना है। स्त्री पुत्र को भी देना है। बहिनों-माताओं के लिए पति और पुत्र-पुत्रियों को देना है। सास-ससुर को भी देना है। देवर, जेठ, देवरानी, जेठानी सब की सेवा करनी है। लेना है ही नहीं। लिया कि फँसे ! जहाँ लेने की इच्छा हुई, फँसे। ग्रामीण कहावत है—

गरज गधा ने बाप करे। गधे पर माल लाद कर चलावे। तो उसको चलावे, बापो बापो चाली सा ! गरज वाला आदमी मुक्त नहीं हो सकता। गधे को बाप बनाना पड़े, बताओ कितना नीचा

उतरना पड़ा है ! पर लेना है, इसलिए इतना नीचा उतरना पड़ा और लेना ही नहीं हो तो हम स्वतन्त्र हैं, विजयी हैं।

आपको एक विचित्र बात बतावें। ध्यान दें। भगवान् के हम भक्त हो सकते हैं। भक्त होते हैं, पर गुलाम नहीं होते। लेना नहीं है भगवान् से भी। लेना नहीं रहता तो भगवान् कहते हैं— 'मैं भगत को दास, भगत मेरे मुकुटमणी।' कब ? जब कि लेना नहीं चाहते। चारों प्रकार के भक्त उदार हैं, पर ज्ञानी यानी निष्कामी भक्त तो भगवान् का आत्मा ही है। वह अत्यन्त प्यारा निष्कामी भक्त है। निष्कामी ज्ञानी भक्त को भगवान् अत्यन्त प्यारे हैं, कारण कि वह उनसे कुछ नहीं चाहता। आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु तो कुछ न कुछ चाहते हैं। वे चाहते हैं, तो भगवान् के यहाँ घाटा थोड़े ही है ! वे धन भी दे सकते हैं, दुख भी दूर कर सकते हैं, तत्वज्ञान भी दे सकते हैं। देने की सामर्थ्य तो पूरी है, परन्तु उन चाहने वाले भक्तों का दर्जा कम हो गया। भगवान् कहते हैं कि मैं तो देता रहूँ, पर तुम चाहो नहीं। 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' (गीता ९।२२) परन्तु तू "निर्योगक्षेम आत्मवान् भव" (गीता २।४५)। अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा मैं स्वयं करूंगा, परन्तु तू मत चाहना कर। कितनी बढ़िया बात कही ! न चाहने से प्रेम होगा। किसी से भी चाह लो, तो प्रेम नहीं होगा। आपस में चाहने से बन्धन होगा। वह इससे चाहता है, यह उससे चाहता है, तो आपस में प्रेम नहीं होगा। दोनों आपस में चाहते हैं, ठगा-ठगाई नहीं होती। दोनों ही ठग, दोनों ही भोगी। वह इससे चाहे, यह उससे चाहे, तो फंसेंगे दोनों ही। संसार से चाहना ठगाई में जाना है। इसलिए चाहना का त्याग करके सेवा करनी है। यह संसार में रहने की असली विद्या है। यही है व्यवहार में परमार्थ की कला।

आप भाई बहिनों से प्रार्थना है: अपने घरों में रहो, पर वैसे जैसे कोई सज्जन मुसाफिर रात्रि भर आकर रहता है। कहता है, तुम

सब भोजन कर लो, बचेगा, वह मैं भोजन कर लूँगा। अपनी-अपनी जगह में रह जाओ, फालतू जगह में मैं रह जाऊँगा। कपड़ा लत्ता जो आपके काम के हों, वह आप काम में ले लें, फालतू से मैं निर्वाह कर लूँगा। रात्रि में आग लग जाय, चोर आ जाय, डाकू आ जाय, आफत आ जाय, बीमारी आ जाय, तो सबसे, आगे होकर सामना करें। अन्न-जल लिया है, विश्राम लिया है, इसलिए इनकी सेवा करना हमारा काम है। काम करे सबसे ज्यादा, लेवे कुछ नहीं, तो वह मुसाफिर बँधता नहीं। लेने की इच्छा रखे तो फंस जाता है। इसलिए, भाई सेवा करनी है। थोड़ा अन्न-जल लेना है, वह भी शरीर-निर्वाह के लिए, क्योंकि शरीर-निर्वाह न होने से सेवा कैसे बनेगी? इसलिए सेवा करने के लिए अन्न-ज़ल लेना है। संसार से अन्न, जल, वस्त्र लेना है, केवल सेवा करने के लिए; अपने भोग-आराम के लिए नहीं।

हमारे एक वृद्ध संत कहते थे कि संसार में रबड़ की दड़ी (गेंद) की तरह रहना चाहिये, फुदकती रहती है, कहीं चिपकती नहीं। लोन्दा नहीं बनना कि जहाँ जावे, वहीं चिपक जावे। यह संसार में रहने की असली विद्या है। इससे बंधन नहीं हो सकता, मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

५. परमात्मा तत्काल कैसे मिले ?

'हमारा उद्धार हो जाय'—बस, यह एक ही लालसा हो जाय, तो तत्काल उद्धार हो जाय। एक बात आप ध्यान देकर सुनें। संसार का काम जैसे करने से होता है, ऐसे ही हम समझते हैं कि परमात्मा की प्राप्ति भी उद्योग करने से होगी। भगवत्प्राप्ति के विषय में यह बात नहीं है, नहीं है, नहीं है। परमात्मा सब देश में, सब काल में, सब वस्तुओं में है, सभी व्यक्तियों में है। तो, उस तत्व की प्राप्ति के लिए तो केवल भीतर की लालसा ही चाहिये। क्योंकि परमात्म-तत्व का निर्माण करना नहीं है। उसको नया बनाना नहीं है। उसको बदलना नहीं है। वह है, ज्यों का त्यों है। सब जगह, सब में है। जहाँ आप कहते हो कि मैं हूँ, वहाँ भी परमात्मा पूरा का पूरा है। इसलिए केवल लालसा से परमात्मा मिल जायेंगे। केवल लालसा से। संसार की कोई वस्तु लालसा मात्र से नहीं मिलती। लालसा होगी, उद्योग करेंगे और भाग्य में होगी—तीनों का संयोग होगा, तो मिलेगी। रुपया चाहिये तो रुपयों की लालसा हो और रुपयों के लिए प्रयत्न किया जाय और प्रारब्ध का संयोग हो, रुपया मिलना होगा, तो ही मिलेगा। उद्योग कर लो, खूब चेष्टा कर लो; नहीं मिलना होगा तो नही मिलेगा।

परन्तु परमात्मा की प्राप्ति केवल इच्छा से हो जायेगी। केवल इच्छा होने से उद्योग स्वतः हो जायेगा, परन्तु परमात्मा उद्योग के अधीन नहीं। परमात्म-तत्व उद्योग-साध्य नहीं है। वह क्रिया-जन्य फल नहीं है। क्रिया-जन्य जो फल होता है, वह नाशवान् होता है। उत्पत्ति जिसकी होती है, उसका विनाश होता ही है। साधना से जो मिलेगा, वह उत्पत्ति वाला होगा।

उत्पत्ति वाला जो होगा, वह मिटेगा ही। परमात्म-तत्व अनुत्पन्न तत्व है। वह क्रिया-साध्य उत्पत्ति, नाशवाला फल नहीं है। है ज्यों का त्यों है। केवल उसकी लालसा हो, दूसरी लालसा न हो। "एक बान करुनानिधान की, सो प्रिय जाके गति न आन की"। केवल लालसा मात्र से परमात्मा मिल जायगा।

और की तरफ वृत्ति होने से ही तो बाधा लगती है। और बाधा है ही नहीं। देरी है ही नहीं। दूरी है ही नहीं। और की लालसा होने से ही संसार का सम्बन्ध है। और की लालसा मिटी कि संसार का सम्बन्ध छूटा। ज्यों संसार का सम्बन्ध छूटा, त्यों परमात्मा मिल गया। वह तो पहले से ही मिला हुआ ही है। अन्य की इच्छा है, चाहना है, वासना है, उसी ने संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ रखा है। संसार से सम्बन्ध जुड़े रहने के कारण परमात्म-तत्व का अनुभव नहीं हो रहा है। संसार की इच्छा करके, उद्योग करके कुछ पा नहीं सकोगे।

जो मिलता दीखता है, वह सब खत्म हो जायेगा। वास्तव में कुछ नहीं मिलेगा। केवल मिलेगा धोखा, धोखा। परमात्मा से आप वंचित रह जायेंगे। इसके सिवाय कुछ लाभ नहीं है। संसार की चाहना से कुछ नहीं होता है। केवल धोखा हो जायेगा। समय खाली चला जायेगा। व्यर्थ ही मनुष्य-शरीर चला जायेगा और कुछ नहीं मिलेगा। जिन वस्तुओं का अभाव है, उनकी मनुष्य के मन में बड़ी भारी लालसा रहती है। सिद्धान्त बैठा लिया है कि सांसारिक उन्नति ही बढ़िया है, जो कि महान् दोष की बात है। जो स्थिति अभी नहीं है, वह स्थिति हो जाय तो मानेंगे कि हमने बड़ी उन्नति कर ली। अभी धन नहीं है, धन हो गया; तो बड़ा काम कर लिया। लोग कहेंगे—हाँ साहब, साधारण आदमी था, लखपति बन गया, करोड़पति बन गया, बड़ा भारी काम कर लिया! यह मूर्ख था, पण्डित बन गया। बड़ा भारी काम कर लिया। इसे कोई

जानता नहीं था, संसार में बड़ी प्रसिद्धि हो गयी, बड़ा काम कर लिया। इसका आदर कोई नहीं करता था, सब दुत्कारते थे, ठुकराते थे, अब इसका आदर हो गया, तो इसने बड़ा काम कर लिया। कुछ नहीं किया है; धूल के दो धोबे जितना काम नहीं किया है। जो "नहीं" थी, वह कर ली तो पीछे "नहीं" ही रह जायेगी। जो सब जगह मौजूद है, उसको प्राप्त कर लो तो बहादुरी का काम है। उसी की बहादुरी है। वह "है" तो "है" ही रहेगा, वह कभी 'नहीं" हो ही नहीं सकता।

आपकी स्थिति इस संसार में है ही नहीं। आपकी स्थिति तो अटल है और संसार आप के सामने बदलता है। आपकी स्थिति संसार में कहाँ है ? बालकपना बदला। जवानी बदली। वृद्धावस्था बदली। रोगावस्था बदली। निरोगावस्था बदली। धनवता बदली, निर्धनता बदली। ये सब बदलते रहे, आप वही रहे। आप वे के वे ही हैं। आपकी स्थिति संसार में है ही नहीं। संसार आपके साथ रह ही नहीं सकता। आप संसार के साथ रह ही नहीं सकते। कभी भी किसी की ताकत नहीं है, ब्रह्माजी की भी ताकत नहीं कि संसार के साथ रह जाय। संसार उनके साथ रह जाय, ऐसा कभी नहीं होता। आपकी संसार में स्थिति नहीं है। धनवता के साथ निर्धनता कैसे रहेगी ? नीरोगता के साथ रोगावस्था कैसे रहेगी ? बाल्यावस्था के साथ जवानी कैसे रहेगी ? आप हैं बिना बदलने वाले, और संसार है बदलने वाला। बदलने वाले के साथ आप न बदलने वाले कैसे रह सकते हैं ? अगर संसार में स्थिति रहेगी, तो संसार बदलेगा कैसे ? मैं बालक था, मैं ही जवान हूँ, मैं ही बूढ़ा हो गया। आपकी स्थिति संसार में कहाँ रहती है ? आपकी स्थिति शरीर और संसार में नहीं रहती, नहीं रहती। आपकी स्थिति सदा परमात्मा में है।

परमात्मा की स्थिति सदा आप में है। इसलिए जो नित्य निरन्तर आप में स्थित है, उस परमात्मा की प्राप्ति कठिन कैसे है ? कठिन तो तब होवे, जब परमात्मा की प्राप्ति के लिए कुछ करना पड़े। करना कुछ है ही नहीं। इसलिए कठिनता और सुगमता का सवाल ही नहीं। कहते हैं कि यह बात ठीक जँचती है। यदि ठीक जँचती है, तो मना कौन करता है ? अपन स्वयं ने ही बाधा खड़ी कर रखी है। आप लोगों को परवाह नहीं, आओ तो ठीक, न आओ तो ठीक। "संतदास संसार में कई गगु कई डोड, डूबन को सासो नहीं, नहीं तीरन को कोड़"।

हमारी यही दशा है। गुगु और डोड, दो क्यों कहा ? क्योंकि, एक को रात में नहीं दीखता, दूसरे को दिन में नहीं दीखता। और हम दिन रात दोनों में नहीं देखते। केवल यह लालसा हो जाये कि परमात्मा की प्राप्ति कैसे हो ? क्या करूँ ? कहा जाऊँ ? किससे पूछूँ ? कैसे परमात्मा की प्राप्ति हो ? यह लालसा जोरदार हुई कि परमात्मा की प्राप्ति हुई। क्योंकि, यह लालसा लगते ही दूसरी लालसा छूट जाती है। जब तक दूसरी दूसरी लालसाएँ रहती हैं, तब तक लालसा अनन्य नहीं होती। अनन्य तत्व की प्राप्ति के लिए कम से कम अनन्य लालसा हो। उसके समान कोई चीज है ही नहीं।

लालसा भी बनानी पड़ती है अथवा स्वतःसिद्ध है ? परमात्मा की लालसा स्वतःसिद्ध है, परन्तु उसकी जागृति के लिए अन्य लालसाओं को छोड़ना पड़ता है। आपने ही अन्य दूजी लालसाओं को पकड़ा है, अतः आपको ही छोड़ना है। दूसरी लालसाओं के छोड़ने से भगवान् की लालसा स्वतः प्रकट हो जायगी। अभी जिन लालसाओं से परिचित है, उनको छोड़ना है। आज जो आपकी लालसा है, ५० वर्ष पहले उससे परिचित थे क्या ? तब जानते ही

नहीं थे। केवल बनावटी है। कोई भी लालसा टिकती नहीं; बदलती रहती है। कोई लालसा एकरूप टिकती है ही नहीं। संसार की कोई इच्छा कभी नहीं टिकती। लालसाएँ मिटती रहती हैं। आप नयी नयी पकड़ते रहते हो।

अन्य लालसा रहते हुए भजन-स्मरण किया जा सकता है, उद्योग किया जा सकता है। लम्बा रास्ता है, तत्काल भगवत्प्राप्ति नहीं होगी। प्रश्न था कि अभी अभी शीघ्र कैसे भगवत्प्राप्ति हो जाय? उस रास्ते से जल्दी नहीं होगी। वह रास्ता लम्बा है। एक दो जन्म, दस जन्म, पता नहीं कितने जन्म हो जायँ। कहते हैं कि ऐसी अनन्य लालसा के बिना भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है क्या? ऐसे नहीं होगी। मामूली लालसा होगी तो समय बहुत लगेगा। किञ्चित्मात्र लालसा है, उसीसे हम अटके पड़े हैं, नहीं तो अटकते क्या? जो भाई-बहिन सत्संग में लगे हुए हैं, उनमें कुछ न कुछ पारमार्थिक लालसा है ही। वास्तव में गहरी दृष्टि से देखा जाय तो तत्व से पारमार्थिक लालसा के बिना कोई प्राणी है ही नहीं। पर पशु-पक्षियों को पता नहीं और मनुष्य जो भी पशु-पक्षियों की तरह ही जीवन बिता रहे हैं, उनको भी पता नहीं। परन्तु उस तत्व को चाहते तो सभी हैं। सभी जीव निरन्तर रहना चाहते हैं। कोई भी जीव-जन्तु मरना चाहता है क्या? पर परमात्म-तत्व निरन्तर रहता है, शरीर निरन्तर कैसे रहेगा? कोई अज्ञानी रहना चाहता है क्या? सब जानना चाहते हैं। क्या दुखी रहना चाहता है कोई? सब सुखी रहना चाहते हैं। अतः सत् माने सदा रहना, चिद् माने जानना और आनन्द माने (नित्य सुखी)। अतः सत्-चिद्-आनन्द की चाहना ही तो सबकी स्वाभाविक चाहना है। इस चाह को कोई मिटा सकता है? दूसरी चाहनाएँ जितनी-जितनी ज्यादा पकड़ रखी हैं, उतनी उतनी देरी लगेगी, उनको जितनी

जल्दी छोड़ दोगे, उतनी जल्दी तत्व की अनुभूति होगी। सर्वथा कामनाएँ मिटा दो, तत्काल भगवत्-प्राप्ति हो जायेगी।

ध्रुव जी को देरी लगी, पर मिलने पर भी खुश नहीं हुए, बल्कि पछिताए कि मैंने गलती की। अन्त में पश्चाताप हुआ कि मैंने गलती कर दी। राज्य की चाहना रखी तो रोना पड़ा। अब जिन चाहनाओं तो पूरा करना चाहते हो, उन चाहनाओं का पश्चाताप होगा और रोना पड़ेगा। परमात्म-तत्व की प्राप्ति की लालसा में दूसरी लालसा बाधक है, अटकाने वाली है और कोई फायदा करने वाली नहीं। इससे लोक-परलोक में कोई फायदा नहीं। वे केवल नुक्सान देने वाली हैं, और कुछ नहीं। दूसरी लालसा आध्यात्मिक मार्ग में केवल बाधा है और किञ्चित् लाभ नहीं है। यदि हो तो कोई बताये कि अमुक लालसा में इतना लाभ हो जायेगा। उसमें कोरा नुक्सान है। केवल नुक्सान की बात भी नहीं छोड़ सकते, तो क्या छोड़ सकते हैं ? आज संयोगजन्य सुख की लालसा के ऊपर गाड़ी अटकी हुई है। सब की बात यहाँ आकर टिकती है। यह सुख की लालसा ही बाधक है, सुख इतना बाधक नहीं है।

सुख की लालसा मन में है, यही खास बाधा है। असली बीमारी कहाँ है—हमें तो इस बात का वर्षों तक पता ही नहीं लगा था। व्याख्यान देते, प्रवचन करते वर्ष के वर्ष बीत गये, तब पता लगा कि बीमारी यहाँ है। हमें सुख मिल जाय, संयोग-जन्य सुख मिले;—यह लालसा ही परमात्मा की अनन्य लालसा होने में बाधा है। यह ही अनर्थ की मूल है। यह जहर का बीज है। इसके सिवाय अन्य बाधा हो तो बताओ ! आप भी तो सत्संग करते हो, पुस्तकें पढ़ते हो। मुझे तो वर्षों बाद यह बात मिली।

संयोगजन्य सुख की वासना, उसकी लालसा कैसे छूटे ? इसके छूटने का बड़ा सरल उपाय है। आप पक्का सोच लें

कि हमें इसको छोड़ना है। यह छूट जाय—इतनी इच्छा घर की (स्वयं की) चाहिये। इसके बिना कोई उपाय काम नहीं देगा। इसको आप छोड़ना चाहते हो, इतने आप तैयार हो जायँ। बहुत जल्दी यह काम बन जाय, ऐसा उपाय मेरे पास है। मैंने पुस्तकों में जो पढ़ा है, सन्तों से जो सुना है, उनमें से कई बातें याद हैं। इसका सीधा सरल उपाय सबके काम का है। सभी भाई बहिनों के लिए है, पढ़-अपढ़, छोटे-बड़े सबके लिए है। उपाय यही है कि एक ही बात मनमें रहे कि दूसरों को आराम कैसे मिले, दूसरों का भला कैसे हो ? यह लालसा लग जाय तो संयोगजन्य सुख की लालसा छूट जायेगी। करके देख लो, सफलता न मिले तो आकर मुझसे पूछो। युक्ति-संगत न दीखे, तो कह दो कि युक्ति-संगत नहीं दीखती। इसमें प्रारब्ध की भी कोई बाधा नहीं। प्रारब्ध तो बहानेबाजी है। किस तरह हम उद्योग करने से वञ्चित रह सकते हैं, इसके लिए एक उपाय है।

मनुष्य बहानेबाजी करते हैं कि प्रारब्ध ऐसा ही है, समय ऐसा ही आ गया। ईश्वर ने कृपा नहीं की। अच्छे गुरुजी नहीं मिले। अच्छे सन्त महात्मा नहीं मिले। कोई बताने वाला नहीं है। हमारा भाग्य ऐसा ही है—यह सब बहानेबाजी है। यह सब मेरा खूब देखा हुआ है, विचार किया हुआ है। यह तत्त्व से केवल वञ्चित रहने का उपाय है। और कोई बाधक नहीं है। ईश्वर भी कभी ऐसा हो सकता है जो अपनी तरफ आने में बाधा दे ? हमारा किया हुआ कर्म हमको बाधा दे दे, वासना हमारी बनायी हुई हमें बाधा दे दे, हम उनको मिटा सकते हैं। क्योंकि, हमने स्वयं ने कर्म किये हैं। स्वयं ने वासना बनायी है। हमने जो बाधाएँ, पैदा कीं, उनको हम ही मिटा सकते हैं। गुरुजी नहीं मिले, तो गुरु की जरूरत ही नहीं है। महात्मा नहीं मिले, तो महात्मा की आवश्यकता क्या है ? भगवान् ने जब परमात्मा की प्राप्ति के लिए मनुष्य शरीर

दिया है तो सामग्री कम दी है क्या ? विवेक रूपी इतनी महान् सम्पत्ति परमात्मा से मिली है, जिसके मिलने से गुरु की आवश्यकता नहीं। जरूरत होगी, तो गुरु बनकर भगवान् को आना पड़ेगा।

'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।' वे जगद्गुरु हैं। उन्हें आना पड़ेगा। अच्छे महात्मा सन्त जगत् में क्यों रहते हैं ? संसार में आकर उन्हें जो काम करना था, वह पूरा कर लिया, उसी वक्त मर जाना चाहिए। वे जीते हैं, तो केवल हमारे लिए जीते हैं। उन पर हमारा हक लगता है, पूरा का पूरा। बालक दुःख पा रहा है तो माँ जीती क्यों है ? बालक के लिए ही माँ नहीं है, तो मर जाना चाहिये माँ को। उसको जीने की जरूरत नहीं। ऐसे ही महात्मा पुरुष हैं, संसार में जीते हैं तो केवल संसार के जीवों के कल्याण के लिये जीते हैं। इसलिए महात्मा नहीं मिले—ऐसा कहना व्यर्थ है। महात्मा नहीं मिलेंगे, तो वे कहाँ जायेंगे ? उनको मिलना पड़ेगा। उन्हें झक मार कर आना पड़ेगा। यदि हम परमात्मा को चाहते हैं और गुरु की जरूरत होगी, तो वह आयेगा। भगवान् भेजेंगे गुरु जी को। ऐसी घटनाएँ घटी हैं कई। यह एकदम सच्ची बात है। इसलिए प्रारब्ध और कर्म की कुछ बाधा नहीं। एक प्रबल इच्छा से सब हो जायगा। प्रबल इच्छा हो तो अन्य सब इच्छाएँ भस्म हो जायँ। इसमें इतनी ताकत है। यह एकदम सच्ची बात है। इन बातों पर हमने प्रश्न-उत्तर किये हैं, पुस्तकें देखी हैं, विचार किया है।

पारमार्थिक मार्ग में हमें संतोष नहीं होता है। अब भी मेरी यही खोज है कि जल्दी से जल्दी कैसे हो ? क्या उपाय है वह ? मैं ठहरता नहीं हूँ, सन्तोष नहीं करता हूँ ! मेरी लगन बढ़िया नहीं है, यह भी मैं जानता हूँ। परन्तु भगवान् की ऐसी विलक्षण कृपा है कि मुझे अटकने नहीं देते। अगाडी

धक्का लगा देते हैं। विचित्र विचित्र बातें हैं; क्या क्या बताऊँ? एक दोष भी है मुझमें। कोई सुने तो सुनाऊँ। कोई समझे तो समझाऊँ, कोई पूछे तो कहूँ। ऐसी भीतर जोरदार इच्छा हो रही है। लोग तो कहते हैं कि शाम को सत्संग सुनाओ। मुझे आश्चर्य आता है कि मेरी जितनी सुनाने की इच्छा है, उतनी तुम्हारे सुनने की इच्छा है क्या?

एक आदमी भी करने को तैयार हो तो मैं समझूँ कि उसने बड़ी भारी कृपा की है मेरे ऊपर। मुझे बहुत धन दे दिया, भोजन दे दिया, आदर दे दिया, महिमा कर दी, सुख दे दिया। मेरा कल्याण हो,—ऐसी इच्छा वाला एक भाई भी मेरे सामने आ जाय और पूछे कि मेरा कल्याण कैसे हो? मैं क्या करूँ? इस बात को मैं समझना चाहता हूँ। समझने का नाम ज्ञानमार्ग है। दूसरे को सुख पहुँचाना कर्मयोग है। भगवान् को अपना मानना, उनमें प्रेम करना यह भक्ति-मार्ग है। भगवान् बिना रह नहीं सकता—यह भक्तिमार्ग है।

तीनों मार्ग स्वतन्त्र हैं। अब आपको जो अच्छा लगे, सो कर लो। इनमें बहुत माथा-पच्ची की हुई है।

अब आप कहो कि मुझमें लगन नहीं होती। ना ना, यह बात नहीं हैं। साधारण से साधारण आदमी को बहुत लगन हो सकती है। उत्कट लगन होने की बहुत गुंजाइश है। सब के सब परमात्मा के अंश हैं, इसलिए पूर्ण हैं। हिम्मत नहीं हारनी चाहिये कभी! प्रबल लालसा हुई कि परमात्मा तत्काल मिले!

६. एक मार्मिक बात

आप धन को 'है' मानते हैं, पर वास्तव में धन 'है' है ही नहीं। आप कहते हैं कि दिखता है; परन्तु धन है ही नहीं। इस समय धन कहाँ दिख रहा है? परन्तु धन का आश्रय ले रखा है। धन का आश्रय हरदम लिया हुआ है। धन हरदम नहीं दिखता, धन पड़ा हुआ दिखता है। कभी आता हुआ दिखता है, कभी जाता हुआ दिखता है। उसका आश्रय लेने से हरदम दिखता नजर आता है।

इस बात पर थोड़ा विचार तो करो कि धन है तो वह हरदम दिखता है क्या? आता जाता दिखता है या हर वक्त दिखता है? इन बातों पर विचार करो। तर्क करो। धन आता-जाता दिखता है, रहता दिखता नहीं। पहले धन था नहीं और बाद में धन रहेगा नहीं। परन्तु भगवान् पहले भी थे, अब भी हैं, बाद में भी रहेंगे। भगवान् आते-जाते हैं ही नहीं। इन बातों में सन्देह हो, तो बताओ। फिर आप कैसे कह रहे हैं कि भगवान् दिखते नहीं, धन प्रत्यक्ष दिखता है?

जिस भाई ने कहा है कि धन दिखता है, भगवान् दिखते नहीं, उसने अपनी दृष्टि से ठीक ही कहा है। क्योंकि, नेत्रों से भगवान् दिखते नहीं। बुद्धि के नेत्रों से देखते हैं, उसको देखना मानते नहीं। कैसे समझाया जाय कि जिस धन को आप प्रत्यक्ष दिखता मान रहे हो, वह पहले था नहीं, फिर भी आप उसको प्रत्यक्ष मान रहे हो। भगवान् जो सदा, सर्वदा हैं, ज्यों के त्यों हैं, उन्हें आप प्रत्यक्ष नहीं मान रहे हो? जरा विचारो।

धन का आश्रय पहले नहीं था, पीछे धन का आश्रय लिया है। भगवान् के आश्रय से तो अनन्त ब्रह्माण्ड चल रहे हैं। भगवान् तो पहले भी थे, अब भी हैं, और आगे भी रहेंगे। कभी उनका अभाव होने वाला है ही नहीं,—ऐसी पक्की बात है और ऐसी मान्यता भी आप लोगों की है, परन्तु धन सदा रहेगा, यह बात है ही नहीं। धन रहते हुए भी आता-जाता रहता है। धन का आश्रय बचपन में था नहीं, बचपन में मां का आश्रय लिया था। तब मां के बिना नहीं रह सकते थे। बचपन में मां का जितना आश्रय था, उतना आज धन का आश्रय नहीं है। यह बात है न सच्ची ? मां के बिना मन ही नहीं लगता था उस समय, उसके बिना रह नहीं सकते थे। तो मां का आश्रय था कि नहीं ?

अन्त में धन रहेगा नहीं। यह बात भी आपकी जानी हुई है कि नहीं ? विचार करो कि धन तो सदा साथ में रहेगा नहीं, पहले था नहीं, पीछे भी रहेगा नहीं। हम धन के साथ नहीं रहेंगे, धन हमारे साथ नहीं रहेगा। इतने पर भी धन का आश्रय ले रहा है ! भगवान् पहले भी थे, अब भी हैं, और आगे भी रहेंगे। प्रभु हमारे साथ रहेंगे। शरीर मर जायेगा, तो भी प्रभु हमारे साथ रहेंगे।

भगवान् के वियोग में हम रह ही नहीं सकते, हमारे वियोग में भगवान् रह नहीं सकते। हमारी शक्ति नहीं है, इतना ही नहीं। भगवान् की भी ताकत नहीं कि हमें छोड़ कर रह सकें। जिस दिन भगवान् हमको छोड़ कर अलग रहेंगे, उस दिन हम एक अलग भगवान् हो जायेंगे, यानी एक भगवान विशेष हो जायेंगे। इस प्रकार दो भगवान् हो जायेंगे। यह संभव नहीं। भगवान् हमारा साथ छोड़ ही नहीं सकते, इसलिए हमें

केवल भगवान् का ही आश्रय लेना चाहिए। भगवान् की स्वतन्त्र सत्ता है; अतः उनका आश्रय ही हमें लेना चाहिए। हमें आश्रय उसी का लेना है, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है। जिसकी सत्ता परतन्त्र है, यानी स्वयं की सत्ता नहीं है, उसका आश्रय हमें लेना ही नहीं। हमें छोड़कर भगवान् रहते ही नहीं, रह सकते ही नहीं। हमको छोड़कर कैसे रहेंगे? छोड़ने की सामर्थ्य नहीं है उनमें। भगवान् छोड़ कैसे सकते हैं? जब वे सर्वव्यापक हैं, सबमें हैं, देश, काल, वस्तु, व्यक्ति—सब में परिपूर्ण हैं, तो मुझे कैसे छोड़ देंगे? छोड़ देंगे तो सर्वव्यापक कैसे? क्या मैं सर्व के अन्तर्गत नहीं हूँ। हम रहेंगे तो भगवान् में ही रहेंगे। हम नहीं रहेंगे तो कहाँ जायेंगे? अधिक से अधिक मुक्त हो जायेंगे, तो भी भगवान् में ही रहेंगे। और कहाँ जायेंगे? शरीर से नहीं रहेंगे, तो भी स्वरूप से तो उसी में रहेंगे। जन्मेंगे-मरेंगे, तो उसी में। जन्म-मरण-रहित रहेंगे, तो भी उसी में रहेंगे। हम उनको छोड़कर नहीं रह सकते और वे हमको छोड़कर नहीं रह सकते। हम दूसरे का आश्रय लेते हैं, यही बाधा है।

अब हम अपने मन की बात सुनाते हैं। ध्यान देकर सुनें। बात गहरी है। 'मैं हूँ' यह भाव सबको है कि नहीं? 'मैं हूँ कि नहीं हूँ'—इसमें कभी सन्देह होता है क्या? इसमें किसी को गवाही प्रमाण देना पड़ता है क्या? किसी से पूछना पड़ता है क्या? "मैं" की सत्ता स्वाभाविक तथा स्वतन्त्रता से है। "मैं" कैसा हूँ, क्या हूँ, यह चाहे हम न जानें, पर "मैं हूँ" अथवा "मैं नहीं हूँ" इस विषय में कभी हमें सन्देह नहीं होता। तो मैं हूँ ही। इससे सिद्ध हुआ कि अनेक जन्मों में मैं था और इस जन्म में भी मैं हूँ और आगे भी रहूँगा।

अभी जाग्रत अवस्था में, स्वप्नावस्था में, निद्रा काल में भी मैं हूँ। बचपन से लेकर अभी तक बीच में मैं कभी नहीं रहा अर्थात् बीच में मेरा अभाव हो गया—ऐसा कभी सन्देह हुआ है क्या? इससे सिद्ध होता है कि मैं नित्य निरन्तर हूँ। यह बात बड़ी सुगम है और बहुत बढ़िया बात है। एकदम सबके अनुभव की बात है।

अपनी नित्य निरन्तर सत्ता हमारी समझ में आती है। उसमें कभी किसी प्रकार की कमी नहीं आती है। जब हममें किसी प्रकार की कमी अथवा अभाव नहीं, तो हमारे भीतर कामना कैसे हो सकती है? हमारे भीतर कामना तभी उत्पन्न होती है, जब उत्पत्ति विनाश वाले शरीर को हम अपना मान लेते हैं। शरीर-परिवार के साथ एकता मान लेने से, उनकी कमी को अपनी कमी मान कर, कामना कर लेते हैं। यदि शरीर और परिवार के साथ एकता न करें, तो मैं तो नित्य निरन्तर रहनेवाला ही हूँ, और शरीर-परिवार बदलने वाले हैं। बालकपना, जवानी, बुढ़ापा, रोग, और निरोगावस्था—ये सब बदलती रहती हैं। मैं तो हूं, मैं सदा ज्यों का त्यों रहता हूँ। आप शरीर के साथ मिलकर अपना बदलना मान लेते हैं, परन्तु वास्तव में आप बदलते हैं नहीं। बचपन का अभाव हो गया, पर क्या आपका अभाव हो गया? इसलिए यह तथ्य है कि मैं तो निरन्तर रहता हूँ।

मूल बात यह है कि मैं हूँ। मैं हूँ और भगवान् हैं। भगवान् का, कभी अभाव नहीं होता। वे सदा से हैं और सदा रहेंगे। सन्तों का, शास्त्रों का कहना है कि सदा तो मिट जायेगा, पर भगवान् तो रहेंगे ही। कारण कि सदा नाम तो काल का है काल तो दाल भात है, काल को वह खा जाता है। काल भी वहाँ खाया जाता

है। काल वहाँ नष्ट हो जाता है। काल तो सबको खा जाता है, पर भगवान् तो काल का भी भक्षण कर लेते हैं! मानो काल भी खत्म हो जाता है, पर परमात्मा सदा ही रहते हैं।

अब विचार किया जाय, 'तू है', 'यह है', 'वह है', 'मैं हूँ,'— इन चार के सिवाय तो कुछ है ही नहीं। तू है, यह है, वह है, मैं हूँ— इन चार के सिवाय पांचवा कोई हो, तो बताओ। 'मैं हूँ' का वोट तो एक का ही आया। और तू है, यह है, वह है, सब में 'है' ही रहा। मैं हूँ में भी मैं लगाने से 'हूँ' हुआ। नहीं तो यहाँ भी 'है' ही है। मैं लगाया तो 'हूँ' हुआ, नहीं तो 'हूँ', कैसे होगा? मैं को साथ नहीं लगायेंगे, तो 'है' ही तो रहेगा। अब "है" में कभी कमी आती नहीं। कमी आवे तो 'है' रहता नहीं। "ना भावो विद्यते सतः" (गीता २।१६)। सत् में कभी अभाव होता नहीं। वह नित्य निरन्तर है और मैं परमात्मा में हूं। केवल इतनी-सी बात आप मान लो। और कुछ नहीं करना है आपको। करने से कुछ मिलेगा, ऐसा कोरा बहम है। एक बड़ा भारी बहम बैठा हुआ है कि किये बिना कुछ नहीं होगा; करने से होगा। भजन करो, जप करो, कीर्तन करो, सत्संग करो, स्वाध्याय करो, ध्यान करो, समाधि लगाओ। करने का बोझ बड़ा भारी है। करने से ही होगा, बातों से होगा नहीं। रोम-रोम में कण-कण में यह धारणा बैठी हुई है कि करने से ही होगा।

मैं एक विलक्षण बात कहता हूँ कि 'मैं' हूँ,—यह मेरी सत्ता है। वह एक परिपूर्ण सत्ता है, जिसमें किञ्चित मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ। वह है और उसी में ही मैं हूँ। मैं और वह एक है। अब करना क्या रहा? क्या जानना रहा? क्या पाना रहा? क्या लाना रहा? क्या ले जाना रहा? क्या परिवर्तन बाकी रहा? खूब सोचो

और बोलो। मैं परमात्मा में हूँ। जैसे कोई पूछे, शरण कैसे हो जायँ? तो यह असली शरण है। इसमें कठिनता हो तो बोलो। मैं हूँ और नित्य निरन्तर परमात्मा में हूँ —

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ (गी० १३।१५)

सबमें परिपूर्ण वह है। अब उस 'है' से अलग मैं नहीं हूँ। मैं क्या, कोई भी उससे अलग नहीं हो सकता। 'है' से अलग कैसे हो जायेगा? और प्राप्ति 'है' की ही करनी है। 'नहीं' की प्राप्ति करनी नहीं है। नहीं की प्राप्ति होगी, तो भी अन्त में 'नहीं' ही, रहेगा।

अब जो 'नहीं' है, वह प्राप्त होने पर भी रहेगा कैसे? 'है' तत्व की प्राप्ति करनी है और उस "है" की प्राप्ति नित्य निरन्तर है। हम उसमें हैं और वह हममें है। यह बिलकुल अनुभव है कि "मैं हूँ" और "मैं वही हूँ"। अवस्था बदली, समय बदला, संयोग बदला, साथी बदले, भाव बदले, परन्तु आप बदले हो क्या? ऐसे ही संसार सब बदलता है, पर परमात्मा बदले नहीं। इसलिए हम न बदलने वाले परमात्मा के अंश हैं। बदलने वाले संसार के अंश हम नहीं हैं। प्रकृति के अंश शरीर को तो 'मैं' और 'मेरा' मान कर पकड़ा है, वह वास्तव में हमारा नहीं है, प्रकृति का है। प्रकृति की चीज को मैं और मेरी मान कर भूल की है। हम परमात्मा के हैं—यह बात ख्याल में आयी कि नहीं?

प्रश्न—ख्याल में तो आयी, परन्तु हृदय में बैठी नहीं है।

उत्तर—यह कह रहे हैं कि स्वामी जो हैं और आप कहो कि मैं हूँ। तो 'हूं' तो 'है' से कमजोर हुई। क्योंकि "है" तो सामान्य रूप से है, परन्तु हूँ तो एक व्यक्ति-विशेष अपने लिए कह रहा है,

'मैं' लगने से ही 'हूँ' हुआ; नहीं तो "है" ही है। शरीर से एकता लेकर कह रहा है—मैं हूं। शरीर नहीं रहे तो भी "है" तो रहता ही है।

इस बात को ऐसे समझिये। जैसे, समुद्र में तरंग उठती है, तो समुद्र हुआ परमात्मा और 'हूँ' हुई परमात्मा में तरंग। 'हूं रूपी' तरंग शान्त होने पर 'है' रूपी समुद्र तो रहेगा ही। हमारा स्वरूप भी "है" से भिन्न नहीं है। अपने को उस "है" के साथ अभिन्न मान लो। समझ में न आवे तो भी यह मान लो कि यह बात समझ में आ गयी। अब इतना मान लो कि "मैं" उस "है" के साथ हूं। अब जप करो, कीर्तन करो, स्वाध्याय करो, सत्संग करो—'है' में कोई फर्क पड़ता नहीं। इसमें क्या अड़चन है? 'हूं' का "है" ही है। बस, इतनी बात, यही बात, इतनी बात कहनी है। "हूं" बदलता है, "है" नहीं बदलता। यही बात कहनी थी मुझे। मन में आयी हुई सार बात यही है।

इसे हर भाई बहन—बिना पढ़ा पढ़ा, भी समझ लेगा। सीधी बात है। इससे बड़ी बात कहीं भी मिलेगी नहीं। आप लोगों को इस बात पर विश्वास कराने हेतु इतनी बातें कहता हूं। मैंने सत्संग भी किया है। साधन भी बहुत साल किया है, पुस्तकें भी पढ़ी हैं। सनकादि ऋषियों का भी, ब्रह्मादि का भी यही ज्ञान है। व्यास जी महाराज का भी यही ज्ञान है। शुकदेव जी महाराज का भी यही ज्ञान है। अन्य सन्त महात्मा जितने हुए, उनका भी यही ज्ञान है। इस ज्ञान से आगे कुछ है नहीं। जैनियों का भी कैवल्य ज्ञान इसके सिवाय और कुछ नहीं है। किसी मतमतान्तर में इससे बढ़कर कोई चीज है नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं। इन चारों महावाक्यों को मिला कर, एक बात है; यानी चारों

महावाक्यों का इस बात में अन्तर्भाव है। बिलकुल किञ्चित् मात्र भी फर्क नहीं। इतनी सरल बात है और इतनी ऊँची बात है। इसे ऊँची बात इसलिए कहता हूं, कि आप इसका आदर करो, इसको महत्त्व दो कि यह बात आज मिल गयी, ऐसी बात जल्दी मिलती नहीं है। उपनिषदों में आता है कि बहुत से आदमियों को सुनने को नहीं मिलती। उमर बीत जाती है और सुनने को नहीं मिलती। आप इस बात को मान लो।

अब एक और बात बताता हूं। आपकी अभी जैसी मान्यता है, ऐसी न रहे तो कोई बात नहीं। आप घबराना नहीं कि आपको यह बात हरदम याद नहीं रहती। हरदम यह बात याद रहनी चाहिए; पर यह बात बिलकुल याद न रहे तो भी चिन्ता नहीं। आपको अपना नाम हर समय याद रहता है क्या ? पर जब देखो तब निस्सन्देह हो कि मैं अमुक नाम वाला हूं। इस तरह से हरदम चाहे मत याद रहे, विचार करते ही चट याद आ जायेगी कि बात तो ऐसी ही है। इससे सिद्ध होता है कि बात मिटी नहीं है, भूली नहीं हुई है। इसको भूली तब मानी जाय, जब इस बात को रद्दी कर दो। जैसे, मैं हरि प्रसाद हूं, इसको आप रद्दी कर दो कि मैं हरि प्रसाद नहीं हूं—तब भूली हुई मानेंगे। बीच में याद न करने से भूली हुई नहीं है, नहीं है, नहीं है। इस बात को रद्दी करो, तो बात दूसरी है। आठ पहर में एकबार भी याद नहीं आवे, तो भी बात तो ऐसी ही है। तो यह बात ज्यूं कि त्यूं रहेगी। इतनी ऊँची, इतनी बढ़िया, इतनी पक्की बात कैसे मिट सकती है ? इससे बेड़ा पार है।

७. अनुभव का आदर

सबके अनुभव की बात है। बहुत सीधी सरल बात है। केवल इसका आदर करना है, इसको महत्त्व देना है। हम इसे कीमती नहीं समझते, यही भूल होती है। जिस तरह से हमने रुपया सोना चांदी हीरा पन्ना आदि को कीमती समझ रखा है, उसी तरह मेरी बात को कीमती समझो और इसका आदर करो तो अभी उद्धार हो जाय। आप सबने यह धारणा बना रखी है कि ये तो ऐसे ही कहा करते हैं। अनुभव पर ध्यान नहीं देने के कारण बन्धन हो रहा है। और कोई कारण नहीं। रुपये तो लाखों, करोड़ों और अरबों मिल सकते हैं। किसी के पास रुपये हैं भी, परन्तु सबके पास नहीं हैं। परन्तु अनुभवसे कोई खाली नहीं है। अनुभव सबके पास है। इसको जो आदर दे, वह निहाल हो जाय।

"लाली लाली सब कहे सबके पल्ले लाल,—गांठ खोल देखे नहीं ताते फिरे कंगाल।" गांठ खुलने की बात बताता हूं। जैसी मैंने संत महात्माओं से सुनी, पुस्तकों में पढ़ी है, उसी के अनुसार कहता हूं। एक दम सच्ची बात है। श्रुति, युक्ति और अनुभूति—पांतजलि जी महाराज ये तीन प्रमाण ही मुख्य मानते हैं। जो बात मैं कहने जा रहा हूं, वह शास्त्र कहता है कि युक्ति-संगत है और अनुभव से सिद्ध है।

यह बात अनुभव की है। आप मानते हो कि मैं वही हूं, जो बचपन में था। यह साफ दिखता है। इससे थोड़ा धुंधला यह भी दिखता है कि पहले जन्मों में मैं था और इसके बाद भी हमारे जन्म होंगे और हम रहेंगे। यह मान्यता है कि

बालकपन में मैं जो था, वही आज हूँ और मरने तक मैं रहूँगा। "मैं" हूँ निरन्तर; शरीर बदलते हैं। मेरे निरन्तर रहने में कभी किंचिन्मात्र भी बाधा नहीं पड़ती। शरीरों के बदलने से मैं किञ्चित्-मात्र भी नहीं बदलता। शरीर तो बदलता ही रहता है। प्रतिक्षण बदलता है। एक क्षण भी ऐसा नहीं, जब यह न बदलता हो; परन्तु इसमें रहने वाला अनन्त युग बीत जाय, अनन्त ब्रह्मा हो जाय तो भी कभी बदलने वाला नहीं है। बदलने वाले शरीर और न बदलने वाले अपने आप को मिलावें नहीं। इनको अलग-अलग कर लो। बस, इतनी ही बात है। दोनों को मिलाकर देखते हो, तब हो जाता है अज्ञान और इनको अलग-अलग देखते हो तो हो जाता है—तत्वज्ञान। ये दोनों सदा अलग-अलग हैं। इनको वैसा समझ लेना ही तत्वज्ञान है।

आप जानते हो कि जो बचपन में मैं था, वही मैं आज हूं। इसको शास्त्रीय भाषा में 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। वही मैं हूँ, जो पहले था। वह मैं हूं। इसी ज्ञान को 'तत्वमसि', वही तू है कहते हैं। वह जो परमात्मा है, वह तू है। यही महा-वाक्य है। ऊंचे से ऊँचा महा-वाक्य यही है। साधारण से साधारण का अनुभव यही है। केवल इस पर दृढ़ रहना है कि जो बदलता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। वृत्तियाँ बदलती हैं, अवस्थाएँ बदलती हैं, घटनाएँ बदलती हैं, परिस्थितियाँ बदलती हैं, व्यक्ति बदलते हैं, वस्तुएँ बदलती हैं, सब बदलती हैं, परन्तु मैं बदलने वाला नहीं हूँ। मैं बदलने वाले को देखने वाला हूं। बदलने वाले को वही देखता है, जो स्वयं न बदलने वाला होता है। इसलिए मैं सदा रहता हूं। मेरा स्वरूप कभी बदलता नहीं। मेरा शरीर नित्य निरन्तर बदलता है। मैं वही हूँ, शरीर वही नहीं है। ऐसे ही संसार में परमात्मा वे ही हैं, जो अनन्त सतयुगों में, त्रेता युगों में, द्वापरयुगों में, कलयुगों में पहले थे, वे ही परमात्मा आज है। अनन्त युग बदल जायेंगे तो भी पर-

मात्मा वे ही रहेंगे। संसार बदलता रहता है। मैं तथा परमात्मा तत्वतः एक हैं। शरीर संसार तत्व से एक है। जिन पांच भौतिक तत्व—क्षिति जल पावक गगन समीरा—से शरीर बना है, उन्हीं पाँच तत्वों से संसार बना है। संसार के साथ शरीर की एकता है। हमने संसार से शरीर को भिन्न मान लिया और अपने को शरीर से मिला लिया। परमात्मा के साथ अपनी अभिन्नता है। उससे हमने अपने को भिन्न मान लिया। मैं तो यहाँ हूं, परमात्मा न जाने कहाँ है? शरीर संसार से कभी भी अलग नहीं हो सकता। ब्रह्मा जी की भी ताकत नहीं कि शरीर को संसार अलग कर दे। जिस धातु का संसार है, उसी धातु का शरीर है। स्थूल शरीरों से स्थूल शरीरों की एकता है। सूक्ष्म शरीरों की सूक्ष्म शरीरों के साथ एकता है। कारण-शरीरों की कारण-शरीरों के साथ एकता है। हम परमात्मा के अंश हैं। "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (गीता १५।७)। परमात्मा का अंश और परमात्मा दो नहीं हैं यानी हम और परमात्मा एक हैं।

शरोर के साथ हमारी एकता नहीं है, पर हमने उसके साथ एकता मान ली। परमात्मा के साथ हमारी एकता है, उससे अपने को भिन्न मान लिया। उसके साथ अपनी एकता नहीं मानी। यह केवल मान्यता में भूल है। गलत मान्यता कर रखी है कि मैं और शरीर एक हैं। मेरे साथ शरीर है, यह कैसे सम्भव है? आप बदले नहीं, पर शरीर बदलता है। संसार बदलता है, परमात्मा बदलते नहीं। तो न बदलने वाले हम और न बदलने वाले परमात्मा एक हैं। बदलने वाला शरीर और बदलने वाला संसार एक है। यह विवेक मनुष्य मात्र में स्वतःसिद्ध है। यह कभी मिट नहीं सकता।

संसार का और परमात्मा का दो-पना है। उनका अलगाव स्पष्ट है। इसी तरह शरीर का और हमारे स्वरूप का दो-पना है। यह दो-पना कभी मिट नहीं सकता। यह अलगाव प्रारम्भ से है। हमेशा रहेगा। इसी को जानने के लिए श्री भगवान् ने गीता (१३।१९) में "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" पदों से अलग-अलग जानने की प्रेरणा की और गीता (१३।२३) में इस प्रकार दोनों को अलग-अलग जानने का फल बताया है। मनुष्य अपनी इस जानकारी का आदर नहीं करता, इसको महत्त्व नहीं देता। शरीर से मैं अलग हूँ; इस बात को वह कीमती नहीं समझता। इस अनुभव को रद्दी कर रखा है और शरीर के साथ एकता मान के बँधा हुआ है। शरीर के साथ एकता अभी तक कोई न तो पकड़कर रख सका है, आगे भी नहीं रख सकेगा। इसी बात को श्री भगवान् ने अर्जुन को गीता जी का उपदेश प्रारम्भ करते समय दूसरे अध्याय के बारहवें श्लोक में कहा है कि "ऐसा नहीं है कि मैं पहले नहीं था, तू पहले नहीं था, ये राजा लोग पहले नहीं थे या इस शरीर के बाद तू नहीं रहेगा, मैं नहीं रहूंगा और राजा लोग नहीं रहेंगे।" अर्थात् तू, हम और ये राजा लोग स्वरूप से नित्य हैं। शरीर के साथ हम नहीं मरते। भगवान् की कही इस बात का तथा अपने अनुभव का हम आदर करें तो हमारा तत्क्षण उद्धार हो जाय।

शरीर और संसार एक है। मैं तथा परमात्मा एक है। मैं और परमात्मा किस तरह एक हैं, इस विषय में मतभेद है। द्वैत मत वाले जाति से एक मानते हैं, अद्वैत मानने वाले स्वरूप से एक मानते हैं, पर संसार के साथ हमारी जातिगत अथवा स्वरूपगत एकता नहीं—इस विषय में सब एकमत हैं। संसार के साथ हमारा सम्बन्ध बिल्कुल नहीं है। इस विषय में सब दार्शनिक एकमत हैं। शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, माध्वा-

चार्य आदि जितने महापुरुष हुए हैं, किसी ने भी शरीर के साथ अपनी एकता नहीं मानी। परमात्मा के साथ हमारी एकता है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्याभेद आदि नामों से जीव परमात्मा के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है, परन्तु परमात्मा के साथ जीव का घनिष्ठ सम्बन्ध है इसमें कोई फर्क नहीं; चाहे परमात्मा तथा जीव दो हैं अथवा एक हैं। अपनी एक मत वाली बात मान लो। हम शरीर और संसार के साथ एक नहीं हैं। हम तो परमात्मा के साथ एक हैं। वे ही हमारे हैं। यह ही असली ज्ञान है। इसको दृढ़ता से धारण कर लेना है। इसमें बाधा क्या है?

शरीर के सुख से हम सुख लेते हैं यानी अपने को सुखी अनुभव करते हैं। शरीर का मान होने से अपना मान मानते हैं। इसकी बड़ाई होने से अपनी बड़ाई मानते हैं। शरीर का निरादर हमारा निरादर, शरीर का अपमान हमारा अपमान, मानते हैं। पर शरीर को कोई पीस डाले तो भी तुम्हारा कुछ भी बिगड़ता नहीं। एक दिन इस शरीर को लोग जला ही देंगे। तुम्हारे स्वरूप का किञ्चिन्मात्र हिस्सा जलेगा नहीं। स्वरूप नष्ट होगा नहीं। संसार अपमान करे, निन्दा करे, दुःख दे, शरीर का टुकड़ा-टुकड़ा करे तो क्या? इसलिए श्री गीता जी ने कहा "यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गरुणापि विचाल्यते" (गीता ६।२२ उत्तरार्द्ध) अर्थात् बड़े भारी दुःख से वह पुरुष विचलित नहीं किया जा सकता।

शरीर को पीड़ा हो सकती है, प्राणों को दुःख हो सकता है, मूर्च्छा आ सकती है; परन्तु मुझे दुःख हो जाय यह संभव नहीं। महान् आनन्द इसमें है। रुपयों के मिलने पर इतना आनन्द कभी नहीं हो सकता। रुपयों को तो हम देते हैं आदर, पर इस बात तथा अनुभव का करते हैं निरादर। शरीर और आप दो हैं—इसमें सन्देह है क्या? शरीर के साथ एक हो कर शरीर के दुःख में दुःख और उसके सुख में सुख मान लिया, यह कृपया न मानें। कहते हैं—प्रत्यक्ष दिखता

है, कैसे न मानें ? दिखे तो दिखता रहे, मानो मत। दर्पण में मुख दिखता है, परन्तु उस मुँह को दर्पण में मानते हैं क्या ? दर्पण में मुख दिखता है, पर पकड़ लो उसे ! नहीं पकड़ते। दिखता तो है, परन्तु जानते हो कि वहाँ कुछ नहीं है। इसी प्रकार शरीर के सुख-दुःख को अपने में कभी मत मानो। 'कृपा करो कृपानाथ', इतनी-सी बात मान लो।

मैं शरीर हूं, यह दर्पण में दिखे ज्यूँ दीखता है, पर है नहीं। मैं शरीर से अलग हूं। अगर शरीर और आप एक होते तो शरीर के साथ आप यहाँ रहते। पर शरीर यहीं पड़ा रहता है और आप चले जाते हो ! यदि आप एक होते तो शरीर आपके साथ जाता। इससे स्पष्ट है कि आप और शरीर एक नहीं है। जैसे, मैं मकान में बैठा हूं तो मकान से मैं अलग हुआ। मैं बाहर चला जाता हूँ, मकान यहीं रहता है। मैं मकान के बिना अलग रहता हूं तो मैं और मकान एक कैसे हुए ? हम मरे हुए मनुष्यों, पशुओं को देखते हैं। शरीर पड़ा है और इसमें रहने वाला चला गया। तो अलग-अलग हो गये। अलग-अलग अभी नहीं हुए, पहले से ही अलग थे। वे अभी ही अलग-अलग नहीं हुए। ऐसी बात नहीं है कि पहले इतने दिन तक तो एक थे, अब अलग हो गये; वे सदा से ही अलग-अलग हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता केवल अनुभव के ऊपर चलती है। "न त्वेवाहं जातु नासम् न त्वं नेमे जनाधिपाः"—(२।१२) इस श्लोक में मनुष्य-मात्र के अनुभव का ही वर्णन है। शरीर शरीरी अथवा देह देही, दोनों को अलग-अलग बतलाया है। इस प्रकरण के उपसंहार तक, तीसवें श्लोक तक यही बात भगवान् कहते रहे। क्योंकि, यह मूल बात है। इसी से उपदेश का श्रीगणेश किया है। भगवान् ने कहा कि शरीर सदा बदलने वाला है और शरीरी कभी नष्ट होने वाला

नहीं है। इस प्रकार जान लेने पर शोक हो नहीं सकता। अब नाश होने वाले का नाश हो तो शोक क्यों हो ? अविनाशी अविनाशी ही रहेगा तो उसमें शोक क्या ? है, ज्यूं है। अब शोक किस बात का ? एकदम सीधी बात है।

परमात्मा का संसार में रहते हुए भी इससे कुछ सम्बन्ध नहीं। संसार सारे का सारा उथल-पुथल हो जाय तो परमात्मा का कुछ नहीं बिगड़ता। ऐसे ही आपका शरीर उथल-पुथल हो जाय तो आपका कुछ नहीं बिगड़ता। आप हो जैसे ही रहोगे। गुणों का संग पकड़ा, इसलिए जन्म-मरण है। "कारणं गुण संगोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु" (गी० १३।२१)—गुणों का संग छोड़ा, फिर जन्म-मरण है ही नहीं। गुणों से सम्बन्ध माना है। न मानते ही यह सम्बन्ध मिट जायेगा। एकदम सच्ची बात है।

आपका रहना नित्य निरन्तर है, शरीर रहने वाला नहीं है। यह सीधी बात है। यह बात सुनने पर स्पष्ट जानने में आती है। हृदय स्वीकार करता है, फिर भी यह बात रहती नहीं, ऐसा मत मानो। यह कभी जा नहीं सकती, क्योंकि सच्ची बात है, याद रहे अथवा न रहे। पहले इधर लक्ष्य नहीं था, अब लक्ष्य हो गया, यह अन्तर पड़ गया। पहले भी बात ऐसी ही थी, अब भी ऐसी ही है। यह तो ऐसी ही रहेगी। यह तो बात ही ऐसी है। सही बात सही ही रहेगी। यह याद नहीं रहती। मत रहो। याद नहीं रहने से क्या हुआ ? यह थम्भा दिखता है। बाहर चले जाओ तो थम्भा नहीं दीखता, तो थम्भा मिट गया क्या ? जो बात सही है, वही रहेगी। कहते हैं कि फिर बाधा क्या है ? बाधा यही है कि दूसरों से सुख ले रहे हो। यही खास बाधा है। अब दूसरों को सुख देना प्रारम्भ कर दो। इतने दिन तो सुख लिया, अब सुख देना शुरू कर दो। निहाल हो जाओगे।

रुपया पैसा मुझे मिल जाय, खूब आराम और मान बड़ाई मुझे मिल जाय, यही महान बाधा है। इससे मिलेगा कुछ नहीं। मान बड़ाई रुपया आराम पहले तो मिलेगा नहीं; मिल जायेगा तो टिकेगा नहीं। टिक जायेगा तो आप का शरीर नहीं रहेगा। वियोग अवश्यम्भावी हैं। इसमें कोरी हानि के सिवाय कुछ नहीं है। इतने नुक्सान की बात को भी नहीं छोड़ेगें, तो क्या छोड़ेगें? परमात्मा की प्राप्ति से बढ़कर दूसरा लाभ है नहीं। मैं शरीर नहीं हूं, मैं परमात्मा का हूं, यही सार हैं। संसार से सुख लेने की इच्छा ही खास बाधा है। कामना का स्वरूप है कि मैं चाहूं ज्यूं हो जाय। अपने मन की अनुकूलता के अनुरूप व्यक्ति, परिस्थिति आदि की कामना, धन की कामना, मान की कामना, भोगों की कामना, मकान की, जमीन की कामना—इस प्रकार की कामनाएं दिखती हैं। मूल में बात इतनी ही है, कि मेरे मन की हो जाय। इसके स्थान पर यह भाव हो जाय कि मेरे मन की न होकर भगवान के मन की हो जाय, संसार के मन की हो जाय; तो निहाल हो जाँय, हम। इसमें सन्देह नहीं।

भगवान् के मन की हो जाय, यह भक्ति हो गयी। संसार के मन की हो जाय, यह कर्मयोग हो गया। मेरा पन से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं अथवा मन में मेरा पन ही नहीं रहे, यह ज्ञान योग हो गया।

———

८. भगवत्प्राप्ति क्रिया-साध्य नहीं

एक बात विशेष ध्यान देने की है कि जिसको मुक्ति, कल्याण अथवा भगवत्प्राप्ति कहते हैं, वह स्वतःसिद्ध है। यह क्रियासाध्य नहीं है। यह बहुत विलक्षण बात है। संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब प्रकृति के कार्य हैं। इनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इन वस्तुओं में परिवर्तनरूप क्रिया ही क्रिया है। संसार की वस्तुएँ क्रियारूप होने से क्रियाओं द्वारा प्राप्त होती हैं, यानी क्रिया-साध्य हैं।

परमात्मतत्त्व ज्यों का त्यों रहता है। उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। इसलिए उस तत्त्व की अनुभूति के लिए जो भी कुछ साधन या चेष्टा की जाती है, यह सब शास्त्र-सम्मत है, उचित है। परन्तु सिद्धान्त की एक बहुत बढ़िया और सूक्ष्म बात यह है कि वह तत्त्व स्वतःसिद्ध है। वह क्रियाओं द्वारा प्रापनीय नहीं है। यह बात बहुत विशेष ध्यान देने की है। मुझे भी यह बात बहुत वर्षों के बाद सन्तों से मिली है। यह शास्त्र-सम्मत है। इसलिए केवल इस बात की ओर ही आप ध्यान दें तो आपका बहुत लाभ होगा।

परमात्मा सब समय में हैं, तो फिर इस समय में हैं कि नहीं? यदि इस समय नहीं हैं तो सब समय में परमात्मा हैं,—यह कहना नहीं बनेगा। परमात्मा सब जगह हैं, तो यहाँ है कि नहीं? अगर यहाँ नहीं हैं और अभी नहीं हैं, तो सब जगह है और सब समय में है,—यह कहना नहीं बनेगा। हम यह मानते हैं कि परमात्मा सब समय में सब जगह हैं, तो अभी हैं और यहाँ हैं। तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि परमात्मा सभी में हैं,—चाहे जड़, चेतन,

स्थावर, जंगम–जो कोई भी वस्तु हो। जड़ कहते हैं–निर्जीव वस्तु को, चेतन कहते हैं—सजीव को। सजीव के दो भेद हैं—स्थावर और जङ्गम। जड़-चेतन में, स्थावर जङ्गम,—सब में परमात्मा हैं। नीचे से नीचा समझे जाने वाले प्राणी में, दुष्ट से दुष्ट आचरण वाले मनुष्य में भी परमात्मा है और महात्मा में, सन्तों में भी परमात्मा है। शुद्ध से शुद्ध वस्तु में और महान् अपवित्र से अपवित्र वस्तु में, नरकों में भी परमात्मा परिपूर्ण है। जब वे सब में हैं, तो हमारे में हैं कि नहीं ? यदि हमारे में नहीं हैं, तो भगवान् सब में है—यह कहना बनेगा नहीं। चौथी बात यह है कि परमात्मा सबके हैं। यह नहीं कि वे साधुओं के हैं, गृहस्थियों के नहीं है, भाइयों के हैं, बहिनों के नहीं हैं। ब्राह्मणों के हैं, अन्त्यजों के नहीं हैं। ऐसा नहीं कह सकते हैं कि परमात्मा किसी व्यक्ति-विशेष के हैं। दुष्ट से दुष्ट पुरुष के भी परमात्मा वैसे के वैसे हैं, जैसे महात्मा से महात्मा के हैं। दुष्ट पुरुष अपने अन्तःकरण की मलिनता के कारण उनका अनुभव न कर सके, यह अलग बात है; परन्तु उसके लिए परमात्मा के होनेपन में फरक नहीं है। यह नहीं कि दुष्ट में तो परमात्मा कम है और सन्त में ज्यादा रहे। उनका किसी में कोई पक्षपात नहीं है। वे सबके हैं। उस परमात्मा पर जैसे महात्मा से महात्मा का हक लगता है, वैसे ही दुष्ट से दुष्ट का भी लगता है। वे सबके हैं। आप यह नहीं कह सकते कि इनके तो वे हैं और इनके नहीं हैं। अन्तःकरण मैला होने से सब उनका अनुभव नहीं कर सकते। परमात्व तत्व का अभाव नहीं है। उनमें पक्षपात किन्चित्मात्र भी नहीं है। पक्षपात हो ही नहीं सकता। इसलिए वे सबके है। इससे क्या सिद्ध हुआ ? यही कि परमात्मा सबके हैं, तो मेरे है और सब में हैं तो मेरे में हैं और सब जगह हैं तो यहीं हैं। सब समय में हैं तो अभी हैं। वे हैं, ज्यों के त्यों ही हैं। उनमें

कर्मों के द्वारा परिवर्तन नहीं होगा, इसलिए वे क्रिया-साध्य नहीं हैं।

इन बातों की ओर ध्यान देने से जो एक बात सिद्ध होती है, उसकी तरफ आप विशेष ध्यान दें। भगवान् का हम भजन करते हैं, नाम-जप करते है, कीर्तन करते हैं। रामायण, भागवतादि ग्रन्थों का पाठ करते हैं। सन्तों की बाणी पढ़ते हैं, तो एक भाव होता है कि परमात्मा अभी नहीं, आगे कभी मिलेगें। अभी हमारा अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ, हम परमात्मा की प्राप्ति के योग्य नहीं हुए, इसलिए अभी परमात्मा नहीं मिलेगें, भविष्य में मिलेगें। यह जो धारणा है, यह महान् बाधक है। साधक लोग मन में तो समझते हैं कि हम भगवान् की ओर चल रहे हैं, परन्तु भगवान् से अलग होने का उद्योग करते हैं। चिन्तन करते हैं कि अभी भगवान् नहीं मिलेगें। मेरा अन्तःकरण जब शुद्ध हो जायगा, तब मिलेगें। अभी परमात्मा कैसे मिल जावेंगे? मैं योग्य नहीं हूँ। मैं पात्र भी नहीं हूँ—यह जो धारणा है, यह महान् बाधक है। यह धारणा साधक का महान् पतन करने वाली है। मेरी योग्यता नहीं है, मैं वैसा पात्र नहीं हूँ,—यह बात तो ठीक है, पर क्या मेरी अपात्रता से भगवान् अटक सकते हैं? परमात्मा इतने कमजोर हैं कि मैं योग्य नहीं, इसलिए वे नहीं मिल सकते। तो उनको 'दयालु' कहना या 'दयालु' मानना ही निरर्थक है। भगवान् योग्य को मिलते हैं, अयोग्य को मिलते ही नहीं; तो फिर उनमें दया का क्या लेना देना? भगवान् ने अपने को 'सुहृदयं सर्वभूतानाम्' (गीता ५।२९) कहा है। तो क्या दुष्ट से भी दुष्ट के भगवान् सुहृद् नहीं हैं? अवश्य हैं। और मैं कैसा ही क्यों न हूँ, क्या मेरे भगवान् सुहृद् नहीं हैं? अगर उनमें पक्षपात है, तो वे भगवान् कैसे? परमात्मा के ऊपर मेरी दुष्टता का कोई असर नहीं है। मैं दुष्ट

हूँ, मैं ज्यादा अयोग्य हूँ, तो भगवान् की कृपा मुझ पर अधिक होगी 'पापी हुलस विशेषी अबकी बेर उबारियो'। इसका क्या अर्थ हुआ ? पापी के मन में अधिक उत्साह और आनन्द होता है। 'पापी हुलस विशेषी' का अर्थ यही तो है कि भगवान् पतित-पावन हैं तो उन पर पतितों का हक ज्यादा लग गया। माँ अबोध होती है और उसमें लड़के का पक्षपात भी रहता है, वह भी अयोग्य लड़के का ज्यादा ख्याल रखती है। तो क्या भगवान् मेरे पर कृपा नहीं करेगें ? यह हो ही नहीं सकता कि वे मुझ पर कृपा न करें।

इसलिए भजन ध्यान करते हुए, जप-ध्यान, करते हुए इस बात पर विशेष ध्यान दें। ऐसा सोचें कि जप करते हुए जिह्वा में, नाम में, श्वास में, मन में, बुद्धि में, अन्तःकरण में, शरीर में, सब में वह परमात्मा परिपूर्ण है। अभी हैं, पूरे के पूरे हैं—ऐसा समझते हुए नाम-जप करें—राम राम राम राम। किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं है। नाम में, श्वास में, मन में बुद्धि में—सब जगह वे परिपूर्ण हैं। लबालब भरे हुए हैं परमात्मा। जहाँ कोई नाम जपता है, वहाँ वे हैं। जब वे मौजूद हैं तो फिर नाम-जप किसलिए करते हो? नाम-जप के बिना हमें सन्तोष नहीं होता—इसलिए करते हैं। सनकादि ऋषियों की बात आपने सुनी है न ? चारों भाई तत्वज्ञ थे। उनमें एक कथा सुनाते हैं, तीन सुनते हैं। भगवान् की कथा करते हैं। क्यों कहते हैं ? इसलिए कि भगवान् की कथा ही ऐसी है—आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्थ्यः अपि उरुक्रमे अहैतुकीं भक्ति कुर्वन्ति इत्थं भूतगुणो हरिः। भगवान् ऐसे हैं कि उनके भजन बिना आदमी रह नहीं सकता। उतना रस, उतना आनन्द और कहीं है ही नहीं। ऐसा आनन्द हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। इसलिए हम उनका भजन करते हैं। भजन के द्वारा हम भगवान् को खरीद लेगें ऐसा भाव नहीं रखना। भगवान् तो

अपनी कृपा से ही मिलते हैं। हमारा अनन्य प्रेम नाम-जप में, कीर्तन में होना चाहिये, क्योंकि हमने संसार में आसक्ति कर ली। संसार के पदार्थों और व्यक्तियों में प्रियता कर ली, यह बड़ी भारी गलती की है। उस गलती के संशोधन के लिए हमें जप-ध्यान आदि करना है। परमात्मा जप-भजन-ध्यान आदि के अधीन हैं,—ऐसा नहीं है। "नाहम् वेदर्न तपसा न दानेन न चेज्यया"

(गीता ११/५३)

"नायमात्मा प्रवचनेनलभ्य:.................................,

उपनिषदों में आता है कि बहुत पढ़ने से, पंडिताई से, परमात्मा नहीं मिलते। बहुत सुनने से शास्त्रों का बोध हो जाय, तो भी परमात्मा नहीं मिलते। गीता में भी आया है "श्रुत्वा प्येनं वेद न चैव कश्चित्" (गीता २/२९) इसका उल्टा अर्थ मत लेना कि पढ़ना, शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना खराब है, सत्संग सुनना खराब है, ऐसा उल्टा विपरीत अर्थ मत लेना। भाव यह है कि इनके द्वारा परमात्मा को खरीद नहीं सकते, परमात्मा के ऊपर कब्जा नहीं कर सकते। जैसे किसी चीज की कीमत रहती है, वह कीमत पूरी देने पर ही उस पर हमारा अधिकार हो पाता है। भगवान को कोई खरीदना चाहे, सो बात नहीं है। भगवान क्रिया-साध्य नहीं हैं।

भगवान् पर अधिकार करने का भी एक तरीका है। वह तरीका यह है कि स्वयं सर्वथा भगवान् का हो जाय। वे कृपा-साध्य हैं। साधन सम्पत्ति से उनपर कोई अधिकार जमा ले, यह सम्भव नहीं है। भगवान का सर्वथा हो जाय; तन, मन, वाणी, विद्या, बुद्धि, अधिकार आदि किसी का भी किञ्चित् भी सहारा नहीं ले। कोई केवल भगवान् का हो जाय तो भगवान् को नचा सकता है। भगवान् उसके वश में हो जायेंगे। परन्तु हमारी साधना है,

हमने जप किया है, हमने कीर्तन किया है, अभ्यास किया है, हम गीता जानते हैं, हम शास्त्र जानते हैं,—ऐसी हेकड़ी अथवा अभिमान रखते हुए प्रभु वश में हो जाय, यह असम्भव है। ऐसा है ही नहीं। वे तो कृपा-परवश होते हैं। उनकी कृपा भी उसी पर होती है, जो सर्वथा उनका हो जाता है। वे सस्ते हैं, तो इतने सस्ते हैं कि "हे नाथ, मैं आपका हूँ"—इतना सुनते ही भगवान् कहते हैं, 'हाँ बेटा, मैं तेरा हूँ'। आप विद्या, बुद्धि, योग्यता आदि का कितना ही जोर लगाओ, उससे आप का ज्ञान बढ़ेगा, आप में पवित्रता आ सकती है, परन्तु भगवान् मिल जाँय, भगवान् वश में हो जाँय, यह बात नहीं होगी।

परमात्मा परम दयालु हैं। वे हमारे हैं, हम उन परमात्मा के हैं; यह सच्ची बात है। इस बात को विशेष रूप से याद रखें कि भगवान् सब समय में हैं, सब जगह हैं, सबके हैं और सबमें हैं। तात्पर्य क्या निकला? यही कि भगवान् यहाँ हैं और अभी हैं और मेरे में हैं और मेरे हैं—यह तत्व निकला। अब निराशा की जगह कहाँ है? अभी हैं, यहाँ हैं, मेरे में है और मेरे हैं। बालक अपनी माँ को मानता है—मेरी माँ। वह माँ पर हक लगाता है, पूरा अधिकार लगाता है। माँ इधर-उधर देखे, तो ठोड़ी पकड़ कर कहता है—'मेरी तरफ देख। मेरी तरफ ही देख, बस।' तो माँ को देखना पड़ता है। ऐसे ही भगवान् को हम कह दें कि हम तुम्हारे हैं, हमारी तरफ देखो। सन्तों ने कहा है "ना मैं देखूँ और को, ना तोहिं देखन देउँ।" 'मैं और को देखूगां नहीं और तेरे को भी दूसरी तरफ देखने दूंगा नहीं।' ऐसा होने पर भगवान् वश में हो जायेंगे।

हम जो और तरफ देखते हैं, यही बाधा है। 'एक बान करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की।' इसलिए

भगवान् की तरफ से कोई भी निराश न होवे। कोई कैसा ही है, कैसी ही उसकी योग्यता है, उसको भी भगवान् की ओर से निराश होने की बात नहीं है। आप को विश्वास न बैठे तो आप जप करो, कीर्तन करो, सब कुछ करो और विश्वास बैठे तो भी सब कुछ करो। जप-ध्यान-कीर्तन आदि तो करने के ही हैं। पर यह बात आप अच्छी तरह समझ लेवें कि इनके द्वारा भगवान् पर कोई अधिकार कर ले, कब्जा कर ले, ऐसी बात नहीं है। हम अपने आप को देकर ही उन पर कब्जा कर सकते हैं। आपने अपने आप को संसार को दे रखा है, इसलिये आप दुःख पा रहे हैं। यदि अपने आप को भगवान् को देदें, तो निहाल हो जायें। इसमें कोई शंका की बात नहीं।

जो बात मैंनें कही है, वह बिलकुल शास्त्र-सम्मत है। क्रियाओं द्वारा भगवान् पर कब्जा नहीं कर सकते। कितनी ही योग्यता पैदा कर लो, उन पर अधिकार नहीं जमा सकोगे। क्योंकि, इनके द्वारा अधिकार उनपर होता है जो इनसे कमजोर होते हैं, यानी कम मूल्यवान होते हैं। सौ रुपयों के द्वारा हम उसी चीज पर कब्जा कर सकते हैं, जो सौ रुपयों से कम कीमत की है। सौ रुपये की चीज है, एक सौ पच्चीस रुपये दे देंगे तो चीज हमारे कब्जे में आयेगी। ऐसे ही भगवान् को किसी योग्यता के बलपर खरीदेंगे तो योग्यता से कम कीमत के भगवान् मिलेंगे। योग्यता से अधिक कीमत वाले भगवान् कैसे मिलेंगे ? इसलिए ये विरक्त हैं, ये त्यागी हैं, ये विद्वान् हैं, ये बड़े हैं,—इन योग्यताओं के द्वारा भगवान् नहीं मिलते। इन योग्यताओं वालों को भगवान् मिलेगें, पर हम साधारण मनुष्यों को भगवान् कैसे मिलेंगे,—यह धारणा गलत है। यदि आप भगवान के लिए व्याकुल हो जायें, भगवान् के बिना न रह सकें तो बड़े-बड़े पंडित, विरक्त तो रोते रह जायेंगे, आप को भग-

वान् पहले मिल जायेंगे। उनके बिना आप नहीं रह सकते, तो भगवान् आपके बिना नहीं रह सकते। इसलिए परमात्मा की ओर से किसी को कभी किञ्चित्-मात्र भी निराश नहीं होना चाहिये और संसार की आशा नहीं रखनी चाहिये, क्योंकि संसार आशा मात्र से मिलेगा नहीं। यदि मिल भी जायेगा तो टिकेगा नहीं। यदि यह टिकेगा, तो आप का शरीर नहीं रहेगा। संसार का अब भी अभाव है, पहले भी अभाव था और सदा अभाव ही रहेगा और परमात्मा अब भी हैं, सदा ही रहेंगे। उनका कभी अभाव होता ही नहीं—यह सिद्धान्त है। अतः ऐसे नित्य निरन्तर सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा की प्राप्ति क्रिया-साध्य नहीं है।

९. जानी हुई एक बात मान लो तो निहाल हो जाओ

आप अनुग्रह करके मेरी एक बात को मान लें। वह ऐसी बात है, जो आप की जानी हुई है। कोई नयी बात नहीं है। कोई भी भाई क्या ऐसा जानता है कि मैं पहले नहीं था और पीछे नहीं रहूँगा? अभी नहीं हूँ? अपने विषय में यह प्रश्न शरीर को लेकर नहीं है। शरीर तो पैदा होने से पहले नहीं था, मरने के बाद भी नहीं रहेगा। परन्तु मैं नहीं रहूँगा तथा मैं कभी नहीं था, ऐसे कभी अपने अभाव का अनुभव भी किसी भाई-बहिन को होता है क्या? अपने अभाव का अनुभव किसी को कभी नहीं हुआ। मैं नहीं हूं, मैं नहीं था और मैं नहीं रहूंगा, ऐसा कभी किसी को अनुभव नहीं होता। मैं क्या था, क्या रहूँगा और मैं क्या हूँ? ऐसा ज्ञान तो चाहे न हो; परन्तु मैं नहीं हूँ, ऐसा भाव कभी नहीं होता। यह सन्देह भी नहीं होता कि मैं कभी नहीं हूँ। मैं तो हूं ही, यह भाव सदैव बना ही रहता है।

आप जो कहते हैं कि मैं हूँ, यह है—अपनी सत्ता, अपना होना-पन। होनापन ऐसा है, जिसका अभाव नहीं है, जिसमें कभी कमी भी नहीं होती। होनापन है, उसमें अभाव कैसे होगा? "ना भावो विद्यते सतः" (गीता २।१६)। सत् का अभाव नहीं होता, तो अपनापन स्वतःसिद्ध है। उसमें अभाव होता ही नहीं। किञ्चित्-मात्र भी अभाव नहीं होता। इसीलिए कहते हैं कि उसमें कमी नहीं होती। कमी नहीं होती, तो उसके लिए क्या चाहिये? क्यों-कि चाहना कमी में ही होती है। जब कमी नहीं है, तो चाहिये

ही क्या ? यानी कुछ नहीं चाहिये। और वह स्वयं है, ज्यों का त्यों है। उसका और क्या है ? यानी शरीर उसका नहीं है, शरीर नाशवान् है। यह उसका नहीं है। जो नित्य निरन्तर है, ज्यों का त्यों है, कभी अभाव होता नहीं, कभी कमी आती नहीं, उसके लिए करना क्या शेष रहा ? पाना क्या शेष रहा ? जानना क्या शेष रहा ?

कहा जाता है कि मैं हूँ, यह बात ठीक है। परन्तु पाना भी बाकी है, करना भी बाकी है, जानना भी तो बाकी है। यह बात ध्यान देने की है। आप जो हैं, उसमें स्थित न होकर, जो प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, उसमें स्थित हो जाते हैं। उसमें स्थित होने से जानना बाकी रह जाता है, करना बाकी रह जाता है और पाना बाकी रह जाता है। इस बात को भी आप जानते हैं कि शरीर प्रतिक्षण बदलता है। कभी भी शरीर एकरूप नहीं रहता। एकरूप से यह रहता तो बचपन वाला शरीर अभी भी रहना चाहिये। बचपन का शरीर अभी नहीं है, यह सबका अनुभव है और बचपन से जितना बदला है, वह अमुक दिन, अमुक महीने, अमुक वर्ष में नहीं बदला है। प्रत्येक दिन, प्रत्येक महीने, प्रत्येक वर्ष में ही नहीं, प्रत्येक घंटे, प्रत्येक मिनट, प्रत्येक सेकेंड में बदला है। तो केवल बदलने के पुंज का नाम शरीर है। बदलने का पुंज यानी "केवल परिवर्तन ही परिवर्तन"—उसका नाम शरीर हुआ। इसमें कोई सन्देह की बात है ?

स्थूल बुद्धि से पदार्थ दीखते हैं, सूक्ष्म बुद्धि से परिवर्तन रूप दीखता है। वास्तव में पदार्थ कहाँ है, वस्तु कहाँ है ? केवल परिवर्तन रूप क्रिया ही है, वस्तु नहीं। पंखा चलता है, पंखा चलता हुआ गोल चक्कर दीखता है, परन्तु गोल चक्कर है नहीं। ऐसे ही तेजी से परिवर्तन के कारण पदार्थ दीखते हैं। यह

शरीर है, ऐसा दीखता है। "है" कहने में देरी लगती है, पर इसके बदलने में देरी नहीं लगती। यह हरदम बदलता है। बदलता है, तो पहले वाला नहीं रहता। आप वही रहते हो। आप कभी बदलते नहीं। इसी को 'है' कहते हैं, पर आप जब इस परिवर्तन-शील शरीर के साथ अपने को मिला लेते हैं, तब कामना, इच्छा, तृष्णा आदि पैदा होती है। इसी से सब अनर्थ होते हैं। मैं नित्य निरन्तर हूँ, मेरा नित्य निरन्तर रहना होता है। अगर नहीं होता तो पहले किये हुए कर्मों का फल अब भोगना पड़ता है और अब जो कर्म करेंगे, उनका फल आगे भोगना पड़ेगा, किसको? हम पहले थे, तब न कर्म किये, जिनका अब भोग हो रहा है? और अगाड़ी रहेंगे, तभी तो अभी किये कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। जो हमने पहले कर्म किये थे, वे भी परिवर्तनशील के साथ मिलकर किये, उनका भोग भोगना होता है और अब भी इसके साथ मिल-कर कर्म करते हैं और उनका जो फल भोगना पड़ेगा, वह दूसरे शरीर में भोगना पड़ेगा।

अगर हम इस शरीर से मिलते नहीं, तो न तो पहले का कर्म स्पर्श करता, न अभी का करेगा, न भविष्य में जन्म लेकर भोगना होगा। उसमें कोई गुंजाइश हो तब तो स्पर्श करे। "है" में अभाव के विना दूसरी चीज प्रविष्ट नहीं होती। वह है, ज्यों का त्यों है। इसलिए उसका अनुभव करने वाले महापुरुषों ने कहा है—

"है" सो सुन्दर है सदा, "नहीं" सो सुन्दर नाँहि।
'नहीं' सो प्रकट देखिए, "है" सो दीखे नाँहि॥

"है" दीखे कैसे? क्योंकि वह सबका दृष्टा है। आंख से सब को देखते हैं, पर आँख से आँख नहीं दीखती। परन्तु जिससे देखते हैं, वह आँख है। इसी प्रकार हम अपने होनेपन को देख नहीं सकते। जिससे देखते हैं, वह 'है' है। उस 'है'-पन से यह दीखे

रहा है। "है"-पन है, ज्यों का त्यों है। इस बात को आप मान लें। आप कहते हैं कि हमें उसका अनुभव नहीं हो रहा है। उस अनुभव के लिए आप जिज्ञासा करें, व्याकुल हो जायें, "राम-राम" करते रहें, परन्तु "है" वहाँ भी है, जहाँ से आप "राम-राम" करते हैं।

आप कृपा करके यह एक बात मान लो कि वह "है" सब समय में, सब जगह, सबमें है। यह मत मानो कि वह दूर है। 'आयेगा, मिलेगा, हम जायेंगे, फिर मिलन होगा।' यदि ऐसी मान्यता बना रखी हैं, तो आप भूले हैं। आप समझते हैं कि हम भगवान् के पास जा रहे हैं, वास्तव में आप भगवान् से अपने को दूर कर रहे हैं। भगवान् से अपने सम्बन्ध के अभाव को दृढ़ कर रहे हैं। 'अभी नहीं मिलेंगे, अभी नहीं मिलेंगे'—ऐसी धारणा रखते हुए 'राम राम राम'—ऐसा जप कर रहे हैं। कृपा करके इस धारणा को छोड़ दो। हमको अनुभव नहीं हो रहा है, यह बात मानो तो कोई हरज नहीं; परन्तु भगवान् तो हैं, मैं हूँ, इसमें भी 'वह है' और मन में, बुद्धि में, वाणी में है। 'राम राम' जहाँ कह रहे हैं, वहाँ भी है। सुन रहे हैं, वहाँ भी है। मैं हूं, वहाँ भगवान् ही हैं, ऐसा मान लो। वे आपकी समझ में नहीं आते, दीख़ते नहीं, पर हैं, इसमें सन्देह नहीं। सन्तों ने, महात्माओं ने कहा है कि वे 'हैं'।

बस 'है' को मानते हुए लगन-पूर्वक 'राम राम' जप करो। बहुत जल्दी अनुभव हो जायेगा। समझो कि अनुभव हो गया, तब तो हो ही गया। दूसरी वस्तु ख्याल में नहीं रही, तो हो ही गया। पर जब तक ऐसा अनुभव न हो, तब तक जिज्ञासा जोरदार रखो। 'राम राम' जपना छोड़ो मत। इसके सिवाय संसार में और कौन सहारा है ? मरने पर भी कहते हैं—'राम नाम सत्य है', 'शरीर असत् है'। 'राम राम' करते रहो। 'र' में, 'अ' में 'म' में, जीभ में, मन में, फुरना में, चिन्ता में, बुद्धि में; मैंपन

है। उसमें सब जगह वह परमात्मा परिपूर्ण है। सब में रमण करता है, सब उसी में ही रहते हैं। उसका नाम 'राम राम' है।

यह बहुत सुगम साधन है। इतना महान् साधन है, फिर भी बहुत सुगम। कल लकवा की बीमारी वाले एक भाई मिले। वे कुछ नहीं बोल सकते, पर 'राम राम' कर सकते हैं। उनसे भी पहले एक भाई कलकत्ते में मिले थे, वे इतना भी नहीं बोल सकते थे, केवल 'राम' कह सकते थे। सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू। लोक में, परलोक में, सब जगह शान्ति देने वाला सुलभ तथा सब को सुख देने वाला है— राम नाम।

आप हमारी यह बात मान लो। श्रद्धा से मान लो, विश्वास से मान लो, युक्ति से मान लो, अनुभव से मान लो, सोच समझ-कर मान लो। मान लो, कि वह परमात्मा सब जगह है, सब में है, सब वस्तुओं में है, सबका अपना है, सुहृद है। वह ही हमारा है। इस बात को दृढ़ता से मान लो कि वह है, यहाँ भी है। बड़ी भूल यही होती है कि साधक मानता है कि भजन करने से बाद में भगवान् मिलेंगे। भविष्य की आशा करना ही महान् बाधा है। शास्त्रों से, सन्तों के कहने से, किसी के कहने से यह मान लो कि परमात्मा तो मिला हुआ ही है, हमें दीखता नहीं, पर 'है' अवश्य। हमें अनुभव नहीं हुआ, पर 'है'। भगवान् का अभाव स्वीकार मत करो। अपने को अनुभव नहीं हो रहा है, इसलिए अनुभव कैसे हो, इसके लिए रात दिन 'राम राम राम राम'— इस प्रकार रट लगाओ। फिर देखो तमाशा, कितनी जल्दी तत्त्व की अनुभूति होती है।

जो जीव चाहे मुक्ति को तो सुमिरीजे राम।
'दरिया' गेले चालता जैसे आवे गाँम॥

१०. नित्य-प्राप्त की प्राप्ति कैसे ?

बहुत सरल और सुगम बात—एक तो है अनुभव की और एक है श्रद्धा की। अनुभव की बात तो यह है कि सब संसार परिवर्तनशील है। यह प्रतिक्षण बदल रहा है। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है।

परमात्मा सब जगह 'है'। 'है' ज्योंका त्योंही रहता है। कभी बदलता ही नहीं। कई युग बदल जाते हैं, कई ब्रह्मा बदल जाते हैं, पर परमात्व-तत्व ज्यों का त्यों ही रहता है। ऐसा ही उसका अंश जीवात्मा है। 'भूतग्रामः स एव अयं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।' (गीता ८।१८) यह जीव वही रहता है, शरीर धारण कर छोड़ता है, और शरीर धारण कर छोड़ता है। इसका कभी अभाव होता नहीं, नाश होता नहीं।

तो दो बातें हुईं—(१) संसार परिवर्तनशील है और (२) परमात्मा तथा जीव अपरिवर्तनशील हैं। परमात्मा में परिवर्तन होता ही नहीं। जो परिवर्तनशील नहीं है, वह 'है' तत्व है। वह सब जगह, सब देश, सब काल, सब वस्तु, सब प्राणियों में है। वह सबको प्राप्त है। इसलिए वह तो हुआ—"प्राप्त"। उधर दृष्टि न हो, यह अलग बात है; पर वह तत्व अप्राप्त नहीं है, क्योंकि वह मिला हुआ है, सबमें परिपूर्ण है। "है" का अभाव कैसे होगा ? जो भाव रूप है, वह मिला हुआ है, प्राप्त है, केवल दृष्टि उधर नहीं है, वह तो है ही। दृष्टि करो तो वही है, दृष्टि न करो तो भी वही है। आप उसको मानें तो भी वही है, न मानें तो भी वही है। आप जानो तो वही है, न जानो तो भी वही है।

"है" तो है ही। "है" सो सुन्दर है सदा"। जो "है" वह प्राप्त है। इतनी बात याद कर लो कि वह वस्तु प्राप्त है। यह विश्वास करना होगा। फिर वह दीख जायेगा और उसका अनुभव हो जायेगा। यह है विश्वास की बात। अनुभव की बात तो यह बतायी कि सब बदलता है और विश्वास की बात यह बतायी है कि नहीं बदलने वाला "है" सब जगह, सबको प्राप्त है। बदलने वाला 'नहीं' है, इसको 'प्रतीति' कहते हैं।

एक प्राप्त और एक प्रतीति—ये दो भेद हैं। जो सत्य तत्व है, नित्य तत्व है, वह तो प्राप्त है और जो अनित्य है, बदलता है, वह केवल प्रतीति है। वह प्रतीत हो रहा है, परन्तु बह रहा है। हम कहते हैं कि अमुक आदमी को धन मिल गया, मान मिल गया, आदर मिल गया, यह मिल गया। वास्तव में मिला कुछ नहीं। यह प्रतीति है। प्रतीति को मनुष्य समझता है कि प्राप्त हो रहा है, परन्तु वह बह रहा है, वह प्राप्त नहीं है। यदि मिल जाता तो और मिलने की इच्छा नहीं रहती,—यही मिलने की पहचान है। जब तक मिलने की, पाने की, इच्छा है, तबतक वास्तविक चीज नहीं मिली है। गीताजी कहती है—"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः" (गीता ६।२२)। जिस लाभ की प्राप्ति होने पर उससे अन्य कोई अधिक लाभ हो, ऐसा वह मान ही नहीं सकता। जब तक और लाभ मिले, और मिले, चाहे धन मिले, मान मिले, स्वास्थ्य मिले, कोइ संयोग मिले, ऐसी इच्छा भीतर है, तब तक आपको वस्तु मिली नहीं है,—यह पक्की बात है। वह मिल जाने पर फिर मिले, यह इच्छा सदा के लिए शान्त हो जाती है। कोई कामना बाकी नहीं रहती। जो दिखता है, वह मिला नहीं है, उसको 'प्रतीति' कहते हैं। यह मिलता है नहीं। वास्तव में कुछ हो, तब तो मिले। परन्तु प्रतीति

का जितना आदर है, उतना प्राप्त का आदर नहीं है, यह है उसकी समस्या।

इस समस्या का हल क्या है? प्राप्त है, इस पर दृढ़ता से विश्वास करना कि वह प्राप्त है। उसमें भी इतना तो अनुभव है ही कि मैं तो सदा से हूँ, सदा रहूँगा, बालकपन में "मैं" था, वही आज "मैं" हूं। शरीर बदला, मन बदला, भाव बदले, इन्द्रियां बदलीं, देश बदला, काल-परिस्थिति बदली, घटनाएं बदलीं, क्रियाएँ बदलीं—ये सब बदलीं, परन्तु "मैं" तो वही हूँ जो पहले था, वही आज मैं हूँ। वेदान्त दर्शन मात्र में स्वरूप की नित्यता के लिए यह प्रबल युक्ति है कि मैं वही हूँ।

कोई दो आदमी पहले मिले थे, वर्षों के बाद फिर मिले। एक बड़ी अवस्था में था, एक छोटी अवस्था में था। दोनों मिले। छोटी अवस्था वाला मनुष्य पूछता है कि 'बाबा जी, आप मुझे जानते हो?' बड़ी अवस्था वाला उत्तर देता है, 'भैया, मैं तो नहीं जानता, तुम जानते हो क्या?' 'हाँ, मैं जानता हूँ।' कारण यही है कि छोटी अवस्था थी, उसमें परिवर्तन बहुत ज्यादा हुआ, बड़ी अवस्था वाले में ज्यादा परिवर्तन दीखता नहीं। आठ दस वर्षों बाद दोनों मिले।

छोटी अवस्था वाले ने कहा 'मैं तो आपको पहचानता हूँ, देखो अमुक समय में मिला था और हम दोनोंमें अमुक-अमुक बातें हुई थीं। मुझमें ज्यादा परिवर्तन होने से आप नहीं पहचान सके।' बड़ो आयु वाला 'हाँ' भरता है— 'अच्छा, वही हो तुम?' छोटी आयु वाले ने कहा—'हाँ, मैं वही हूँ।' बड़ी अवस्था वाला भी स्वीकार करता है—'ठीक है भैया, मैं भी वही हूँ।' छोटी आयु वाला पूछता है, 'क्या ढंग है? आज कल कैसी परिस्थिति है?' उत्तर देता है कि 'आज कल तो बड़ी

तकलीफ में हूँ। आफत आयी हुई है। पैदा है नहीं।' छोटी आयु वाले से पूछता है—'तुम्हारा क्या हाल-चाल है?' वह कहता है—'हम तो मौज में हैं, काम धन्धा बहुत अच्छा है।'

इन दोनों की बातों पर विचार करें। दोनों की अवस्था बदली, परिस्थितियाँ बदलीं, पर वे दोनों वे ही हैं। "मैं भी वही हूँ, तू भी वही है," इसमें किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं। परिस्थितियों में महान अन्तर है। अवस्था आपके साथ नहीं रही। परिस्थिति आपके साथ नहीं रही। आप परिस्थिति, अवस्था, क्रिया, घटना से अलग हो। आप स्वयं इन सबसे अलग हो, ये सब बदलने वाले हैं। ये बदलने वाले 'प्रतीति' मात्र हैं। यह दीखता है, परन्तु बदलता रहता है। इसको सच्चा मानने से ही सारे अनर्थ होते हैं। जितने अनर्थ हुए हैं, इनको स्थायी मानने से ही हुए हैं। ये 'प्रतीति' हैं, वह 'प्राप्त' है।

कहते हैं कि उसको हम 'प्राप्त' कैसे मानें? जब दिखता ही नहीं, तो उसे कैसे मानें? उपनिषदों में एक वाक्य आता है—विज्ञातारं केन विजानियात्? उस सब के जानने वाले को किससे जानें? जैसे आँख से सब कुछ दिखता है, पर आँख दिखती नहीं। दर्पण में आँख की आकृति को देख लो, परन्तु नेत्रेन्द्रिय नहीं दिखती। जो देखने की शक्ति है, वह नहीं दिखती। परन्तु जिससे दिखता है, उसमें ही यह मानते हैं कि एक देखने की शक्ति है। अगर देखने की शक्ति न हो, तो यह दिखने वाला कैसे दिखता? ऐसी ही यह 'प्रतीति' होती है—स्थिर नहीं रहती है। यह स्थिर नहीं रहती, इसकी प्रतीति होती है। इसको जानने वाला, इसकी प्रतीति करने वाला जो है, वह सदा ही 'है'। वह ही 'प्राप्त' है। अगर वह न होता तो प्रतीति किसको होती? यह प्रतीति परिवर्तनशील है। जो इसे देखता है, वह है द्रष्टा अर्थात्

देखने वाला।' उस देखने वाले को ईश्वर कह दो, जोवात्मा कह दो, सत् कह दो, ब्रह्म कह दो। ये कई नाम हैं कहने के, पर वह एक ही तत्व है।

प्रतीति सच्ची है अथवा झूठो है, अथवा दोनों से विलक्षण है? इस विषय में बड़ा मतभेद है; परन्तु यह रहती नहीं, बदलती है, इसमें मतभेद नहीं है। झूठो कहने का तात्पर्य है कि प्रतीति है ही नहीं। यदि नहीं है तो प्रतीत कैसे होती है? इसलिए झूठो कैसे कहें? प्रतीत होती है. पर रहती नहीं। इसलिए सच्ची भी कैसे कहें? "है" कहा जाय, तो रहनी चाहिए, पर रहती नहीं। इसलिये इसको वेदान्त ने **अनिर्वचनीय** कहा है। सत् भी नहीं कह सकते, असत् भी नहीं कह सकते। सत् और असत-दोनों ही नहीं कह सकते। इससे भी विलक्षण है, इसलिए इसको 'अनिर्वचनीय' कहा है यानी इसका विवेचन नहीं किया जा सकता।

प्रतीति है, वह सच्ची नहीं है, झूठी कहने में तो जोर पड़ता है, पर सच्ची नहीं है, क्योंकि सच्ची हो तो रह जाय।

राजा जनक के यहाँ नौ योगेश्वर आये। राजा जनक ने उनके सामने जाकर प्रणाम किया और कहा, "मैं आज निहाल हो गया।" वे निहाल इसलिए नहीं हुए कि उनके यहाँ ऐश्वर्य पदार्थ बहुत थे। बल्कि सच्ची बात बताने वाले सन्त मिल गये, इसलिए निहाल हो गये। ध्यान देना, रहने वाले तत्व को बता देंगे, इसलिये निहाल हो गये। दुनिया तो बहुत घनी बैठी है, वह तो निहाल नहीं हुई। नव योगेश्वरों से निहाल क्यों हुए? रहने वाले को बता कर निहाल क्या करेंगे? वह तो प्राप्त है ही। उसे बताओ तो, और न बताओ तो, प्राप्त हुआ तो है ही। परन्तु प्राप्त हुआ भी हमारे क्या काम आया? वे नहीं बतावें, तब तक काम नहीं आवे; क्योंकि उनसे

सुने विना उसपर विश्वास नहीं होता। उसे माना नहीं जाता। इसीलिए मैंने कहा, श्रद्धा करो, विश्वास करो। दूसरी प्रत्यक्ष अनुभव की बात कही कि प्रतीति मात्र बदलनेवाली है। इसलिए मैंने कहा कि जो "है", प्राप्त है, उस पर विश्वास करो, तो लाभ होगा। नहीं तो कुछ नहीं मिलेगा। इसलिए उसको मानो।

दोनों बातों में एक अनुभव की बात है, एक श्रद्धा की। एक पर तो विश्वास करना पड़ेगा। मैंने बताया कि प्रतीति जिसको होती है, वह "है" है। यह उस "है" को मानने की जोरदार युक्ति बतायी। मानने से ही लाभ होगा, नहीं मानने से नहीं। बिना माने प्राप्त होते हुए भी फायदा नहीं होगा।

एक गाय बीमार हो गयी। उसका मालिक वैद्य के यहाँ गया। वैद्य ने कहा कि आप गाय को आध पाव काली मिर्च देना और उस पर पाव भर घी दे देना। उसने गाय को आधपाव पीसकर काली मिर्च तो दे दी, घी नहीं दिया। सोचा कि गाय का घी तो गाय में है ही। गाय ज्यादा बीमार हो गयी। वैद्य जी के यहाँ अगले दिन गया और बोला, 'गाय तो ज्यादा बीमार हो गयी!' वैद्य ने पूछा, 'काली मिर्च और घी दिया था?' उत्तर दिया—'हाँ साहब, काली मिर्च तो दे दी थी, घी गाय में था ही। दूध निकाला नहीं, घी तो गाय के पाव भर हर रोज होता ही है।' एक काली मिर्च की गर्मी, एक बीमारी की। गाय की बीमारी बढ गयी। उसमें घी होते हुए भी घी काम नहीं आया। घी निकाल कर देदें तो काम आ जाय।

इसी तरह वह "है" तत्व प्राप्त है, उसका अनुभव करना है! हम सब उस प्राप्त तत्व की अनुभूति के लिए ही तो इकट्ठे हुए हैं।

जो प्राप्त है, उसका अनुभव नहीं हो रहा है। प्राप्त है—ऐसा मानने की चटपटी लगेगी, उत्कण्ठा होगी, तब अनुभव होगा। प्राप्त है, सदा है, सब जगह है, परन्तु मुझे अनुभूति क्यों नहीं हो रही है? ऐसी लगन लगने से ही लाभ होगा। नहीं तो जब तक बातें बनाते रहोगे, कुछ हाथ नहीं लगेगा। मेरी तरह आप भी व्याख्यान दे दोगे, परन्तु जै राम जी की! मिलना कुछ नहीं है। इसलिए कहा जा रहा है कि आप उससे वञ्चित क्यों हो रहे हो? बच्चे को मालूम हो जाय कि मां यहाँ है, तो वह रोने लग जायेगा। माँ है तो मुझे गोद में क्यों नहीं लेगी? यह कहना इसलिए है कि इस पर विश्वास होने से आपको उसे जानने की चटपटी लगे। 'है' को सीख लिया, अपना काम खत्म हो गया।

'प्राप्त' की प्राप्ति करनी है। प्राप्त कहने की सार्थकता, उसकी प्राप्ति के लिए लगन लग जाने में है, नकि झूठा सन्तोष करने के के लिए। उस लगन के लिए प्रतीति को सच्चा न मानना तथा उससे सुख लेने की इच्छा का न रहना आवश्यक है। प्रतीति को सच्चा न मानने से प्राप्त की प्राप्ति होगी—यह है चाबी। प्रतीति को नित्य सुखदायी मानने से वह कभी प्राप्त नहीं होगी, भले ही कितने ही ग्रंथ पढ़ जाओ। चारों वेद पढ़ जाओ। छः शास्त्र पढ़ जाओ। प्रतीति को सच्चा मानते रहोगे, तो नरकों में जाओगे। कोई रोकने वाला नहीं है। मकान, धन, कुटुम्ब आदि जिन प्रतीतियों को सच्ची मानकर उनमें सुख लेकर फंसे हुए हैं, वे कोई आपको नरकों से न बचा सकेंगे।

कहते हैं कि प्रतीति रहने वाली तो नहीं है, फिर भी किसलिए यह आकर्षित करती है? प्रतीति को आप प्रतीति न मानकर नित्य मानते हो, तब उधर खिचते हो। प्रतीति केवल हो तो उसको प्राप्त करने का भाव ही नहीं होता। सिनेमा में पर्दे पर बढ़िया

भोजन दिखने पर खाने की प्रवृति होती है क्या ? कैसा बढ़िया भोजन है—यह याद ही नहीं आती। दर्पण में मुखड़ा दिखने पर भी उसको पकड़ने की प्रवृत्ति होती है क्या ? क्यों ? प्रवृत्ति तो होती है, पर मिलेगा कुछ नहीं, यह जानकारी है। ठीक ऐसे ही यह जँच जायं कि संसार में जितना भी धन, मान, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र आदि प्रतीतियां है, ये कुछ नहीं हैं, यहाँ मिलेगा क्या ? आज दिन किसी को कुछ नहीं मिला, तो हम को क्या मिलने वाला है ? आप चाहे इनको मिला मान लो, कोरा वहम है। संसार कहते ही उसको हैं जो "सम्यक प्रकारेण सरति"—जो प्रतिक्षण जा रहा है। इसलिए मिलना कुछ नहीं है। 'प्राप्त' तो एक परमात्म-तत्व ही है, परन्तु उसकी अनुभूति भी इस 'प्रतीति' से विमुख होने पर ही होगी, नहीं तो कोरी बात रह जायेगी।

११. वास्तविक सम्बन्ध को जान लेने से शीघ्र भगवत्प्राप्ति

वास्तविकता को आप हम सब जानते हैं। उसका आपको, हमको, सबको अनुभव है। परन्तु हम उस जानकारी पर कायम नहीं रहते, यही हमारी गलती है! यदि उस पर कायम रह जाँय तो बेड़ा पार है, आज, अभी। हम संसार से अपना जो सम्बन्ध मानते हैं—यह गलती है। संसार के संयोग बिना रह सकते हैं। पर छोड़े बिना नहीं रह सकते, जी नहीं सकते। इस बात पर आप खूब ध्यान देकर विचार करें!

संसार की वस्तुओं, व्यक्तियों और पदार्थों से सम्बन्ध रखकर हमें उतना सुख नहीं मिलता, जितना उनके वियोग से सुख मिलता है। पूछा जा सकता है कि यह बात कैसे है? जैसे, हमें गाढ़ी नींद आती है। उस गाढ़ी नींद के समय किसी व्यक्ति या वस्तु से किञ्चित् मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता। सम्पूर्ण वस्तु तथा व्यक्ति को हम भूल जाते हैं। इनके भूलने में जितनी सुख-शान्ति है, उतनी इन वस्तुओं को याद रखने में सुख-शान्ति नहीं है।

अब सोचिये, नींद लेने की प्रवृत्ति हमारी जन्म से है। नींद हम लेते ही हैं। तब संसार को भूलते ही हैं। आठ पहर भी बिना संसार के विमुख हुए हम जी नहीं सकते। अगर कई दिन नींद न आवे तो मनुष्य पागल हो जाय। जितनी खुराक नींद से हमें मिलती है, उतनी खुराक पदार्थों, व्यक्तियों के सम्बन्ध से नहीं मिलती। अपितु व्यक्तियों और पदार्थों का सम्बन्ध रखने से

थकावट होती हैं। वह थकावट नींद से दूर होती है। नींद से शरीर में, इन्द्रियों में, अन्तःकरण में शक्ति और स्फूर्ति तथा ताजगी आती है। पदार्थ, व्यक्तियों के सम्बन्ध से ताजगी-शक्ति का ह्रास होता है।

नींद हम बचपन से लेते आये हैं, पर पदार्थों से हमारा सम्बन्ध निरन्तर नहीं रहता। बचपन में खिलौने अच्छे लगते थे, उतने और पदार्थ तथा व्यक्ति अच्छे नहीं लगते थे। घर उतना अच्छा नहीं लगता था, जितना खेल अच्छा लगता था। इसके बाद रुपये-पैसे अच्छे लगने लग गये। अब खिलौने अच्छे नहीं लगते। पर नींद अब भी वैसी की वैसी प्रिय लगती है। खिलौने प्यारे लगते थे, तब भी नींद अच्छी लगती थी, नींद से सुख मिलता था। रुपये अच्छे लगने लगे, तो भी नींद अच्छी लगती थी और रुपयों को भुला करके जो नींद आती है, वह नींद और भी अच्छी लगती थी।

अब विवाह हुआ। स्त्री है, पुत्र है। परिवार बड़ा अच्छा लगने लगा। उस परिवार के लिए रुपये भी खर्च कर देते हैं। परन्तु गहरी नींद के लिए स्त्री को, पुत्र को, मित्रों को, कुटुम्बियों को भी छोड़ देते हैं। जिनके मोह में फंसकर हम झूठ, कपट, बेईमानी, चोरी, ठगी, धोखेबाजी आदि कर लेते हैं, उन सबका भी गाढ़ नींद के लिए त्याग कर देते हैं। स्वतः वृद्धावस्था आती है। उसमें आपका मोह परिवार में बहुत बढ़ जाता है। पोता, पोती, दोहता, दोहती आदि में स्नेह बहुत अधिक हो जाता है, परन्तु गाढ़ नींद के लिए इन्हें भी छोड़ देते हैं। यदि वैराग्य हो जाता है, तो जब धन, मकान, पुत्र, परिवार को छोड़कर चले जाते हैं, साधु हो जाते हैं, विरक्त त्यागी बन जाते हैं, तब भी नींद लेते हैं। मुमुक्षुपने से नियोग

होता है, वैराग्य त्याग से भी वियोग होता है; पर नींद चाहते हैं।

परन्तु कहीं यदि भगवद्-प्रेम हो जाय, भजन में रस आने लगे, तो नींद अच्छी नहीं लगती। यह बात ध्यान देने की है। सन्तों का पद आता है कि बैरिन हो गई निन्दरिया, यह नींद हमारी बैरिन हो गयी। उस समय तो यही चाहते हैं कि नींद नहीं आवे तो अच्छा है।

हमने देखा कि प्रत्येक परिस्थिति में नींद प्रिय लगती है। नींद नहीं आवे, तब नींद आ जाय तो अच्छा, यही भाव रहता है। नींद लेने की हम पूरी तैयारी करते हैं, अच्छा बिछौना बिछाते हैं, खूब आरामप्रद तकिया लगाते हैं। बढ़िया-बढ़िया तरह-तरह के कई पंखे भी रखते हैं कि आराम से नींद आ जाय। हल्ला-गुल्ला न हो, ऐसी व्यवस्था करते हैं नींद आने के लिए।

कितने भोग भोगते हैं, कितने मनोहर दृश्य देखते हैं, सिनेमा देखते हैं, पर अब नहीं सुहाता। अब तो नींद लेने दो मुझे। हम अब नींद लेंगे। इससे सिद्ध हुआ कि नींद सब वस्तुओं, दृश्यों, व्यक्तियों से प्यारी है। नींद के लिए सब कुछ त्यागा जा सकता है, पर नींद का त्याग नहीं किया जा सकता। परन्तु प्रभु-प्रेम लगने पर वही नींद बुरी लगने लग जाती है। इससे सिद्ध होता है कि संसार से हमारा सम्बन्ध बनावटी है यानी हमारा जोड़ा हुआ है। इससे वियोग होना आवश्यक है। उससे वियोग हुए बिना शान्ति-सुख मिल नहीं सकते, परन्तु परमात्मा के साथ हमारा सच्चा नित्य वास्तविक सम्बन्ध है।

हमारा अनुभव है कि संसार के वियोग से सुख होता है। कभी भी ऐसा नहीं होता कि सांसारिक संयोग के बिना हम रह

नहीं सकते हों; परन्तु वियोग के बिना हम रह ही नहीं सकते। कितनी विलक्षण बात है कि इसके वियोग का अनुभव सारी उम्र का है। यह मनुष्य मात्र का अनुभव है। जीव मात्र नींद लेता है, पशु-पक्षी सब नींद लेते हैं। तो संसार से वियोग हरएक प्राणी चाहता है। इसके संयोग में कमी से भी काम चल सकता है। किसी को अच्छी रोटी मिलती है, किसी को बुरी रोटी मिलती है। किसी को बढ़िया मकान मिलता है, किसी को मकान बिल्कुल ही नहीं मिलता है। इसमें सब के साथ विषमता है। दो मनुष्यों की भी आराम-सामग्री एक समान नहीं है। परन्तु नींद में सब समान हैं। संसार के वियोग में सब बराबर हैं। वस्तुओं के बिना हम जितने सुखी होते हैं, वैसे वस्तुओं के संग में नहीं होते। यह वियोग का सुख सबको समानता से प्राप्त है। यह वियोग स्वाभाविक है, क्योंकि नींद की ओर प्रवृति स्वतः होती है। यह सबके अनुभव की बात है। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थों से संयोग हम जोड़ते हैं, इनसे वियोग स्वतःसिद्ध है।

नींद में सबसे सम्बन्ध विच्छेद होता है। यह आवश्यक है। यह निजी चीज है। इसको त्याग नहीं सकते हैं। संसार के साथ हमारा जो संबंध है, वह माना हुआ संबंध है। माने हुए संबंध को पकड़े हुए ही नींद लेते हैं, जागकर के फिर संसार के संबंध में लग जाते हैं। अवस्था बदलती है, परिस्थिति बदलती है, घटनाएं बदलती हैं, व्यक्ति बदल जाते हैं। काल, देश—सब बदल जाते हैं। ये तो सब बदलते रहते हैं, पर संसार से सम्बन्ध विच्छेद तो करना ही पड़ता है। इनसे अलग होनापन कभी नहीं बदलता है। वह एक ही रहता है, क्योंकि वह हमारा निजी है। संसार के साथ सम्बन्ध माना हुआ है, इसके साथ सम्बन्ध-विच्छेद वास्तविक है। सम्बन्ध-विच्छेद माना हुआ नहीं है, वास्तविक है। इसलिए सम्बन्ध-विच्छेद हो ही रहा है।

बालकपन से सम्बन्ध-विच्छेद हुआ। जवानी से हुआ। निरोगता से हुआ, रोगीपन से हुआ, धनवता से हुआ, निर्धनता से हुआ। कई व्यक्तियों से संयोग होकर वियोग हुआ। इस प्रकार सम्बन्ध-विच्छेद अवश्यम्भावी है, क्योंकि संयोग माना हुआ है। हमने बड़ी भारी भूल यह की कि माने हुए संयोग को तो सच्चा मान लिया और वियोग जो स्वतः हो रहा है, उधर ख्याल हीं नहीं किया। वियोग में जितना सुख है, जितनी शान्ति है, उतनी संयोग में है ही नहीं। अगर पदार्थों के संयोग में सुख शान्ति रस आता, तो नींद छुट जाती। जब भजन में रस आने लगता है, तब नींद, भूख और प्यास सब छुट जाती हैं।

दरियावजी महाराज की वाणी में आता है कि भजन के प्रेम में नींद, भूख और प्यास जो शरीर के निर्वाह की खास चीजें हैं, हम इन्हें भी भूल जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि असली सम्बन्ध छोड़कर नकली सम्बन्ध कौन रखेगा? नकली सम्बन्ध को कौन चाहेगा? संसार का सम्बन्ध शरीर का है, हमारा खुद का नहीं है। हम संसार के साथ जो सम्बन्ध बनाये रखते हैं, वह माना हुआ सम्बन्ध रहता है। इसको हम छोड़ दें, तो आज निहाल हो जायँ। सम्बन्ध छोड़ने का अभिप्राय यह नहीं है कि हमें कहीं जंगल में जाना है, या साधु बनना है। हमें कहीं जाना नहीं है। बस, हमारे भीतर यह भाव आ जाय कि यह संसार हमारा नहीं है, हमारे तो केवल भगवान् हैं। वस्तुओं से सम्बन्ध है, उनका सदुपयोग करने के लिए। व्यक्तियों से सम्बन्ध है, उनकी सेवा करने के लिए। परन्तु व्यक्ति और वस्तुएँ हमारे लिए नहीं हैं। न तो हमारे लिए कोई व्यक्ति हैं और न हमारे लिए कोई वस्तु है। जो 'हमारे' कहलाते हैं, भाई, भौजाई, स्त्री, पुत्र, माता, पिता—इन सबकी वस्तुओं द्वारा सेवा करनी है। शरीर इनका है, क्योंकि इनसे मिला है, इनसे पुष्ट हुआ है।

इसलिए शरीर को इनकी सेवा में लगा दो। हमें कुछ लेना नहीं है, हमारा कुछ नहीं है। इनकी वस्तुएँ इनकी सेवा में लग गयीं। हमें तो सदुपयोग करने का अधिकार मिला है। इसलिए सदुपयोग कर लिया। इसी का नाम है कर्मयोग। भगवान ने कर्मयोग का विवेचन करते हुए श्री गीता जी में कहा कि **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन** (गीता २।४७)। कर्त्तव्य कर्म में तेरा अधिकार है, फल में कभी नहीं। अतः इनकी सेवा कर दो। सेवा के साथ अपना सम्बन्ध मत जोड़ो। अपने को कुछ चाहिए ही नहीं। फल का हेतु बनना नहीं है, कहा है कि अकर्म में भी तेरी आसक्ति न हो। अर्थात् कर्म न करने में भी तेरी आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

खूब तत्परता से सुचारु रूप से पूरी योग्यता लगा करके कर्म करना है। क्यों करना है? क्योंकि मनुष्य शरीर मिला ही सेवा करने के लिए है, भोग के लिए नहीं। भोग तो अन्य योनियों में भी मिलते हैं। सेवा करके भगवत्प्राप्ति करने में ही मनुष्य जन्म की सार्थकता है। 'मनुष्य' नाम मनुष्य की आकृति का नहीं है; जिसमें विवेक-शक्ति है, वही मानव है। यह विवेक हमें संसार से अपना बनाया हुआ सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए मिला है। संसार में लिप्त रहने, चिपकने के लिए नहीं। सेवा यानी कर्मयोग सम्बन्ध-विच्छेद कराने में सहायक है। अतः कर्मयोग की प्रणाली से कर्म करने हैं।

संसार का सम्बन्ध हमारा केवल सेवा करने के लिए ही है। और क्या मतलब है? माता-पिता की सेवा करनी है, स्त्री-पुत्र का पालन-पोषण करना है, सब की सेवा करनी है। इनसे सम्बन्ध मान कर सुख लेने से हमें शान्ति नहीं मिलती, जितनी इनकी सेवा करके सम्बन्ध-विच्छेद करने से मिलती है। इनसे अलग होने में

जितना सुख मिलता है, इतना सुख कभी भी इनके संयोग में नहीं मिलता। संसार के साथ किसी सम्बन्ध में ऐसी प्रियता नहीं, जिसके लिए मनुष्य नींद, भूख और प्यास छोड़ दे। प्रभु के साथ सम्बन्ध जुड़ने पर नींद अच्छी नहीं लगती, भूख-प्यास अच्छी नहीं लगती।

नारद जी की मां मर गयी। वे जंगल में चले गये। भगवत्प्रेम की लगन में यह ख्याल ही नहीं आया कि जंगल में क्या खायेंगे? क्या पियेंगे? कहाँ रहेंगे? यह बात भी याद नहीं रही। केवल एक ही लगन—भगवान की तरफ चलो। उनका मन भगवान में लग गया। वृक्ष के नीचे बैठे। समाधि लग गयी। कुछ देर बाद समाधि उड़ गयी। व्याकुल हो गये। बहुत ज्यादा व्याकुल हुए तो आकाश-वाणी हुई कि—दुर्दर्शोऽहम् कुयोगिनाम् यानी कुयोगियों को मैं दर्शन नहीं देता। इस शरीर के बाद जब तुम्हारा ब्रह्मा जी का बेटा होकर शरीर बनेगा, उस समय मेरी प्राप्ति होगी। उनको निराशा नहीं हुई। आकाश-वाणी से चटपटी बढ़ी। अब नारद जी चाहते हैं कि हम अब कब मरें और शरीर कब छूटे! दुनिया तो शरीर चाहती है कि हम जीते रहें, और वे कहते हैं कि हम मर जायँ, मर जांय।

संसार में अपने शरीर के जीने की जितनी इच्छा होती है, उतनी कुटुम्ब के जीने की इच्छा नहीं होती। गाय नवजात बछड़े पर बहुत स्नेह रखती है। बछड़े को छोड़ कर जंगल में चरने भी नहीं जाती। परन्तु जब हम उसे मारने-कूटने लगते हैं, तो जंगल में चली जाती है। जंगल में जाकर घास चरती है। पर घास चरते-चरते जब बछड़ा याद आ जाता है तो 'हूं' ऐसे हुंकार करती है। घास मुँह से गिर जाती है। बछड़े के साथ प्रेम है, पर घास के साथ भी है ही, क्योंकि घास भी खा रही है। सायं-काल में जब वापिस लौटती है, तो सब गायों से अगाड़ी भागती है। पहले

भागकर के हुँकार करती हुई बछड़े के पास जाती है। बछड़े को प्यार करती है, उसे दूध पिलाती हैं। उसका बछड़े पर प्रेम है और घास पर भी है। पर शरीर पर ज्यादा प्रेम है, लाठी पड़ती है तो बछड़े को छोड़ देती है, घास को छोड़ देती है, शरीर पर नौबत आती है तो बछड़े व घास की परवाह नहीं करती। शरीर से अत्यधिक प्रेम है, तो बछड़े में दो नम्बर का प्रेम है। घास में तीन नम्बर का प्रेम है। शरीर में जिस तरह पशु का मोह होता है, उसी तरह मनुष्य का भी शरीर में अत्यधिक प्रेम होता है। परन्तु मनुष्यों में विवेक है। वह शरीर से प्रेम हटाकर भगवान में प्रेम कर लेता है, क्योंकि वह जानता है कि शरीर तो हरदम रहेगा नहीं। शरीर हरदम बदलने वाला है, इसलिए हरदम रहे कैसे ? परन्तु परमात्मा हरदम रहते हैं और हम उसी के अंग हैं। हम तो उसी के हैं।

जब यह पहचान हो जाती है तो शरीर की आसक्ति मोह छोड़ करके हम परमात्मा में लग जाते हैं। जैसे, नारद जी। परमात्मा के साथ हमारा सम्बन्ध वास्तविक है और संसार के साथ हमारा सम्बन्ध अपना बनाया हुआ नकली है। इस वास्तविकता को हम जानते हैं। यदि इस पर दृढ़ रहें तो हमारा बहुत ही शीघ्र कल्याण हो जाय।

१२. आप सदैव शरीर से अलग हैं !

भगवान् ने मनुष्यों को कल्याण की सामग्री बहुत दी है। उम्र भी बहुत ज्यादा दी है। मिनटों में कल्याण हो जाय, उसके लिए वर्षों की उम्र दी है। विचार-शक्ति बहुत दी है। सब सामग्री इतनी दी है कि मनुष्य कई बार अपना कल्याण कर ले, परन्तु एक बार कल्याण होने के बाद दूसरी बार कल्याण करने की आवश्यकता ही नहीं। बहुत विचित्र-विचित्र सामग्री भगवान् ने मनुष्य को दी है। जैसे, एक यह बात कि बचपन से आज तक आप को यह पक्का ज्ञान है कि मैं वही हूँ। सीधी बात है। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति सब बदली है और मैं वहीं हूँ। मैं तो वही हूँ, पर शरीर वैसा नहीं है, साथी वैसे नहीं हैं। जो बदले हैं, उनको छोड़ दें; जो वही है, उसको पकड़ लें, तो अभी बेड़ा पार है। अभी-अभी इसी क्षण ही। जो बदलता है; वह मेरा स्वरूप नहीं है और जो नहीं बदलता है, वह मेरा स्वरूप है।

अनेक परिस्थितियों के बीच आप एक हैं। अनेक घटनाओं के बीच आप एक हैं। अनेक देशों में घूम फिर कर भी आप एक रहते हैं। बहुत समय बीतने पर भी आप वही रहते हैं। सब कुछ बदलने पर भी आप वही हैं। वही हैं। उसको (बदलने वाले को) आप अलग करके देखें, बस मौज है। तत्वज्ञान हो गया। उसको (बदलने वाले को) मिला करके देखें तो अज्ञान हो गया।

साधन करनेवाले भाई बहिनों के मन में एक बात आती है कि मेरा मन निर्विकार हो जाय। दुःख-सुख की घटना का मेरे मन पर असर न पड़े। अनुकूलता और प्रतिकूलता का असर न पड़े। यदि

ऐसी मन की अवस्था हो जाय, तो तत्वज्ञान हो गया। यदि मन पर असर पड़ता है, तो तत्वज्ञान नहीं हुआ। इस महत्त्व की बात को आप ठीक तरह से समझें। असर किस पर पड़ता है? मन पर पड़ता है, बुद्धि पर पड़ता है, शरीर पर पड़ता है, इन्द्रियों पर पड़ता है। आप तो वही रहते हैं न! रुपये आये, नफा हुआ, आपके मन में प्रसन्नता हुई। रुपये चले गये, घाटा लग गया, मन दुःखी हो गया। मन में नफा नुक्सान होने से दो तरह का असर हुआ। आप तो वही रहे। नफा हुआ तो आप दूसरे थे क्या? नुक्सान हुआ, तब आप दूसरे हो गये थे क्या? आप एक नहीं रहते, तो नफा नुक्सान का ज्ञान किसको होता? आप तो सम हो रहते हैं। एक ही रहते हैं। आप पर असर पड़ता ही नहीं है। असर पड़ता है—मन, बुद्धि पर। तत्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष बचपन से जवान और बूढ़ा हो जाय, तो नेत्रों से दिखना तो उसको कम हो जायगा, सुनना कम हो जायगा, चलना-फिरना कम हो जायगा; परन्तु उसके ज्ञान में क्या अन्तर पड़ेगा?

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—ये सब बदलनेवाली हैं। इन पर यदि कोई असर पड़ गया, ये बदल गयीं तो क्या हो गया? आप उनके असर से अपने को सुखी-दुःखी मानते हो, यही गलती होती है। इतनी बात पर दृढ़ रहो कि मैं वही हूँ। सुख के समय में जो था, वही दुःख के समय भी हूँ। अपने आप में स्थित रहना ही 'स्वस्थ' होना है, यानी 'स्व' में स्थित होना है। सुखी-दुःखी होना प्रकृति में स्थित होना है। प्रकृति में स्थित होने से सुख-दुःख के भोगने में हेतु होना पड़ता है। क्यों? इसलिए कि आप प्रकृति में स्थित हो जाते हैं यानी आप शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि पर असर होने को अपने पर असर होना मान लेते हैं। आप जानकर प्रकृति में स्थित होते हैं। आप उसमें स्थित हैं नहीं। आप न सुख में हैं,

न दुःख में। न लाभ में हैं न हानि में। न किसी के जन्म में हैं, न किसी के मरण में। आप सदैव इन सबसे अलग हैं। आप जान-बूझ कर अपने को उसमें खींच लेते हैं और सुखी-दुःखी हो जाते हैं और कहते हैं कि 'साहब, बोध नहीं हुआ।' आप वही रहते हैं बस, इस बात में स्थित रहो। इसको कहते हैं—'सम दुःख सुखः स्वस्थः।' 'स्व' में स्थित हो गये, बस। 'स्व' सदा ही निर्विकार है। 'स्व' में कभी विकार होता ही नहीं। विकार अन्तःकरण में होता है, उसके साथ मिलकर आप अपने को विकारी मान लेते हो और सुखी-दुःखी होते हो!

हमें बहुत बड़ा भारी आश्चर्य लगता है कि कहाँ गाड़ी अटकी हुई है। पाप कर्म की बात मैं कहता ही नहीं। जो लोग सत्संग करते हैं, वे पाप करते हैं, ऐसा मेरे मन में आता ही नहीं। आप सत्संग में आये हो, सत्संग सुनने के लिए, भजन-ध्यान करने के लिए, कल्याण करने के लिए। आप पाप करो तो यहाँ आये ही क्यों? पाप कभी भी भूलकर भी नहीं करना चाहिये। जिसको अन्याय समझते हो, उसको स्वप्न में भी मत करो। अपनी तरफ से पाप का विचार ही छोड़ दो। आपके मन में मन्दी फुरना आ गयी, अच्छी फुरना आ गयी, बुरी आ गयी, भली आ गयी, शोक आ गया, चिन्ता आ गयी, हर्ष हो गया, कहीं राग हो गया, कहीं द्वेष हो गया—ये ही तो होते हैं। ये होने पर भी आप अपने में स्थित रहो, उनसे मत मिलो। उनके साथ मिलते हो, यह प्रकृतिस्थ होना है। प्रकृति के साथ मिले रहने से पाप भी लगेगा, जन्म-मरण भी होगा, दुःख भी होगा, सब कुछ होगा। 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (गीता १३।२१)।

चीजें बनती हैं, बिगड़ती हैं, पदार्थ आते हैं, जाते हैं, उनको देख कर भी आप अपने में ही स्थित रहो। क्योंकि, आप उनके

देखने वाले हो। देखने वाला दिखने वाली वस्तुओं से अलग होता है, यह नियम है। सुखदायी परिस्थिति भी आप देखते हो और दु:खदायी परिस्थिति भी आप देखते हो। संयोग को भी आप देखते हो, वियोग को भी आप देखते हो। देखने वाले में क्या अन्तर पड़ा ? देखने वाला तो वही रहा।

हम गंगाजी के किनारे खड़े हैं। बहुत से सिलपट (काठ के टुकड़े) आ जाँय, हम खिल-खिलाकर हँस पड़ें और मन में सोचें कि बहुत आनन्द हो गया। आज तो बड़ा आनन्द हो गया। दूसरे दिन वहीं खड़े रहें और सिलपट (काठ का टुकड़ा) एक भी न आवे, उधर से बह जाय; अब हम जोर-जोर से रोने लगें। कोई पूछे कि 'भाई, क्यों रोते हो ?' तो हम कहें कि 'भाई, आज एक भी सिलपट हमारे पास से बहकर नहीं गया। सब के सब उधर से बहकर चले गये।' जरा विचारो तो कि क्या फर्क पड़ा ? सिलपट इधर आकर बह जाय तो क्या ? तुम तो उन्हें छूते नहीं। तुम्हारे पास वे रहते नहीं। वे तो बहते हैं, तुम खड़े हो। पास में आकर सिलपट बह गया तो तुम खुश हो गये। दूर से बहकर चला गया, तो रोने लग गये ! यह मूर्खता ही तो हुई।

ऐसे ही बेटे का जन्म हुआ तो आप प्रसन्न हो गये, बेटा मर गया तो रोने लग गये ! किसी दूसरे के भी लड़का हुआ और मर गया। आप न तो उसके जन्म लेने पर प्रसन्न हुए, न मरने पर रोये। धन उसके हो गया और चला गया, आप नहीं रोये। आपके होकर चला गया, तो रोते हो ! 'क्यों रोते हो भाई ?' आपका पहले था नहीं, बाद में हो गया, फिर चला गया। पहले थे जैसे हो गये, तब रोना किसलिए ?

आप को कुछ भी स्पर्श करता नहीं। आप अपने में स्थित रहो, रोओ नहीं। आप बहने वाली घटनाओं, परिस्थितियों, पदार्थों, व्यक्तियों से चिपकोगे तो रोओगे मुक्त में। संसार का दु:ख

मुफ्त में आपने पकड़ रखा है। उड़ता तीर ले रहे हो। भगवान् ने दुःख पैदा किया ही नहीं, दुःख है ही नहीं। आप दुःख पैदा कर लेते हो, बहने वाली चीजों से सम्बन्ध जोड़कर। आपको पता नहीं क्या शौक लगा है? संसार को 'दुःखालयम्' कहा गया है। आप इसको पकड़ते हो, इसलिए 'दुःखालयम्' है। उपनिषदों में कहा है—आनन्द से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द में ही प्राणी रहते हैं और आनन्द में ही लीन हो जाते हैं।

आपने शंका रखी कि संसार दुःखालय है। यह बड़ी अच्छी बात है। आप थोड़ा-सा विचार करो। यह श्लोक गीताजी का मुझे भी याद है—दुःखालयमशाश्वतम् (गी० ८।८५) यह किस समय कहा गया है? आप पुस्तक का प्रमाण लाकर देते हो, मैं भी आपको प्रमाण दे दूंगा। उससे भी बढ़िया प्रमाण दे दूंगा। पर इससे लाभ क्या होगा? आपके और हमारे आपके साधन में जो बाधा आती है, उसको सामने रखो तो उस पर विचार किया जाय। मैं तो आप से एक ही बात कहता हूँ कि आप बदलने वाले के साथ मिलो मत। भले ही बदलने वाले के साथ एकता दीखती रहे, उसके साथ आप मिलो मत। मैं उससे अलग हूं,—ऐसा देखो। जहाँ अलगाव का ज्ञान साफ हुआ कि विकार मिट जावेंगे। मिले रहोगे तो विकार रहेंगें।

प्रश्न—स्वामी जी, मिले हुए हैं तो अलग कैसे होवें?

उत्तर—मिले हुए आप हो ही नहीं। यदि आप मिले हुए होते तो आप भी बचपन, जवानी, बुढ़ापा के साथ बदलते। आप तो कहते हो कि मैं वही हूं। बचपन चला गया, जवानी चली गयी, बुढ़ापा आ गया, आप वही रहे। आप अलग हो, जब तो वही रहे? आप तीनों को जानते हो। जानने वाला जानने में आने वाली से अलग होता है, तो आप अलग हुए अथवा एक हुए? मिले हुए आप हो नहीं। जानते हो कि मिले हुए नहीं हो, फिर भी अपने को मिले हुए मानते हो। बस, इसको न मानो।

कहते हो कि कैसे न मानें ? हमें तो मिला हुआ दीखता है ? आप दीखने वाले को आदर दो, तो आप की मरजी। यहाँ आये हो तो अपने अनुभव को आदर दो। गीताजी के वचनों का आदर करो कि हम अलग हैं। चाहे, घुला मिला दीखे, चाहे साक्षात मिला हुआ दीखे, परन्तु मैं इनसे अलग हूँ—इतना मान लो। प्रत्यक्ष अनुभव है कि बचपन से आज तक शरीर बदला है, मैं वही हूँ। इस अनुभव के आधार पर मान लो कि शरीर अलग है, मैं अलग हूँ। यदि फिर ठीक अनुभव न हो तो व्याकुल होकर भगवान् से कहो–'महाराज, मुझे ऐसा अनुभव नहीं हो रहा।' परन्तु इतनी बात पक्की जान लो कि हूँ तो अलग ही। यदि अलग न होता तो मरने पर शरीर यहाँ नहीं रहता, साथ में जाता, अथवा शरीर के साथ आप यहाँ रहते। न आप शरीर के साथ रहते हो और न आपके साथ शरोर जाता है। तो एक कैसे ? दो हुए कि नहीं ? मकान में मैं रहता हूँ, तो मैं और मकान एक कैसे हो गये ? मैं मकान से अलग चला जाता हूँ, तो मकान और मैं दो हुए। ऐसे ही शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि मकान हैं। आप इसमें रहने वाले हो, रहते हो और निकल भी जाते हो। आप इनके साथ एक नहीं हो। एकता आपकी मानी हुई है। यह आप सबका अनुभव है।

आप कड़वी दवाई पीते हो। कड़वी से कड़वी दवा चिरायता कुटकी आँख मीचकर पी लेते हो। ऐसे ही "मैं अलग हूँ"—इस दवाई को पी लो। फिर भी अलग न दीखे तो व्याकुल हो जाओ। जोरदार व्याकुलता होगी, तो चट अलगाव का अनुभव हो जायेगा। भोगों में रस लेते रहो, तो कितना ही पढ़ जाओ, पण्डित बन जाओ, चारों वेद पढ़ जाओ, सुख भोगते रहोगे, तो कभी अलगाव का अनुभव नहीं होगा। व्याकुल हो जाओ कि ऐसा अनुभव जल्दी से जल्दी कैसे हो, तो आपको घुला मिला दीखना बन्द हो जायेगा। घुले मिले की मान्यता भूल है। यह भूल अब नहीं करेंगे—ऐसा दृढ़ विचार करने से फिर इस भूल के मिटने में देरी नहीं लगेगी।

१३. सुख-लोलुपता को मिटाने का उपाय

आप पूछते हैं कि भगवत्-तत्व की अनुभूति कैसे हो ? इसका उत्तर यह है कि संयोगजन्य सुख की आसक्ति मिटाओ, तो अभी अनुभव हो जाय। संयोगजन्य सुख में जो आकर्षण है, यही खास बीमारी है। विचार करने से यह बात ठीक समझ में आती है कि इस सुख की लालसा ने ही भगवत्-तत्व की अनुभूति नहीं होने दी। संयोगजन्य सुख यानी पदार्थों, व्यक्तियों, परिस्थितियों, घटनाओं के सम्बन्ध से सुख मिलता है। यह नित्य निरन्तर कैसे रहेगा? जिनके सम्बन्ध से सुख मिलता है, वे ही उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं ! संयोग से मिलने वाला सुख असह्य हो जाय, तो सहज सुख प्रकट हो जायेगा। **ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख राशी॥** वह सहज सुख स्वतः प्रकट हो जायेगा। जब कृत्रिम सुख का त्याग कर दिया जाय, तो स्वाभाविक सुख की स्वतः अनुभूति होगी।

जब तक अस्वाभाविक सुख का त्याग नहीं करेंगे, तब तक हमारा सम्बन्ध संसार से नहीं है और परमात्मा से हमारा स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है,—यह बात सुनते रहने पर भी काम नहीं आवेगी। संसार नाशवान् है, क्षणभङ्गुर है—ऐसी बातें सुन लो, याद कर लो, पर अनुभव नहीं होगा। संसार असत्य है, इस प्रकार इसको असत्य कहने से सीख लेने से, याद करने से संसार का सम्बन्ध छूटता नहीं। संसार को असत्य जान लेने पर भी जब तक असत्य के द्वारा संयोगजन्य सुख लेते रहेंगे, तब तक असत्य जान लेने पर भी इसकी असत्यता का अनुभव नहीं होगा। कारण कि उसके संयोग से सुख को सत् मानते हो और उसके लेने के लिए लोलुप हो तो संसार को असत्य कैसे अनुभव कर सकते हो ?

प्रत्यक्ष पता है कि संयोगजन्य सुख लेने से दुःख भोगना ही पड़ता है। कोई ऐसा प्राणी हो ही नहीं सकता, जो संयोगजन्य सुख भोगता है और उसे दुःख भोगना न पड़े। इस प्रकार दुःख से बचना असम्भव बात है। बहुत दुख भोगना पड़ेगा। निश्चय ही भोगना पड़ेगा। यह जानते हुए भी मनुष्य सुख की इच्छा क्यों नहीं छोड़ता है ? बात क्या है ? वर्तमान में संयोग से सुख होता है, उसका कितना आकर्षण है, उसकी कितनी प्रियता है, उस पर विश्वास हैं, भरोसा है ! परिणाम पर उतना विचार नहीं है। इसका विचार ही नहीं करते कि इस सुखासक्ति का परिणाम क्या होगा ? मनुष्य विचारता है, तो आँख मीच लेता है, वह उस परिणाम को जानना नहीं चाहता।

इसलिए भगवान् ने राजसी सुख का वर्णन करते हुए श्री गीताजी में बताया—**विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रे मृतोपमं परिणामे विषमिव** (गी० ८।३८)। विषय इन्द्रिय संयोगजन्य सुख को प्रारम्भ में अमृत के तुल्य परिणाम में विष की तरह बताया है। ईसके परिणाम का विचार मनुष्य ही कर सकता है और प्राणियों को यह विवेक-शक्ति प्राप्त नहीं, जिससे वे विचार कर सकें। पशु-पक्षियों में ऐसी शक्ति नहीं। देवता लोग तो सुख के लिए ही देव लोक में रहते हैं। उनका उद्देश्य ही भोगों से सुख लेने का है। वे क्या इसके परिणाम को जानेंगे ? मनुष्य शरीर केवल परमात्मा की प्राप्ति के लिए मिला है। यदि सोचे तो मनुष्य शरीर की ही योग्यता है। इसलिए मनुष्य को चाहिये कि इस संयोगजन्य सुख के परिणाम की ओर हरदम दृष्टि रखे। हरदम सोचे कि इसका परिणाम क्या होगा ?

सांसारिक सुख का परिणाम दुःख होगा ही। भगवान् ने गीता जी में कहा है कि **ये हि संस्पर्शजा भोगाः दुःखयोनय एव ते**

(गीता ५।२२) । जितने सम्बन्धजन्य सुख हैं, वे सब के सब दुःखों के उत्पत्तिस्थान हैं । संसार में जितने भी दुःख होते हैं, यानी नरक होता है, कैद होती है, अपयश होता है, अपमान होता है, रोग होते हैं, शोक होता है, चिन्ता होती है, व्याकुलता होती है, घबराहट होती है, बेचैनी होती है—ये सबके सब दुःख मात्र संयोगजन्य सुख की लोलुपता का नतीजा हैं । सुख-लोलुपता खास बीमारी है ।

सुख इतना बाधक नहीं है, जितनी सुख की लोलुपता बाधक है । लोलुपता-रहित सुख बाधक नहीं है, परन्तु सुख न रहते हुए भी उसकी लोलुपता बाधक है । सुख मिल जाय, सुख ले लूं—यह इच्छा जितनी बाधक है, उतना सुख बाधक नहीं है । सुख बेचारा आता है, चला जाता है, पर लोलुपता बनी रहती है । सुख नहीं है, उस वक्त भी लोलुपता रहती है कि सुख मिले । सुख है, उस समय भी उसकी प्रियता रहती है और सुख चला जाय तो भी उसके लिए प्रियता, आकर्षण, लोलुपता बनी रहती है । वास्तव में यही है बीमारी । गीताजी ने इसको दूर करने का सरल उपाय बताया है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ (गीता ५।६)

योग के बिना संन्यास यानी सांख्ययोग प्राप्त करना कठिन है और योगयुक्त मुनि बहुत शीघ्र ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।

'योगयुक्त' किसे कहते हैं ? **समत्वं योग उच्यते** । गीता (२।४८) में समता को योग बताया है । समता का अर्थ है—सुख मिले, दुःख मिले, अपने में विकृति न आवे । चाहे लाभ हो जाय, चाहे हानि हो जाय; कोई पैदा हो जाय, चाहे कोई मर जाय; बीमारी हो जाय, चाहे स्वस्थ हो जाय; मान हो जाय, चाहे अप-

मान हो जाय; निन्दा हो जाय, चाहे स्तुति हो जाय;—ये जो सुख-दुःख आदि के द्वंद्व हैं, इनमें समता रखे। इसका नाम है—'योग'। उस समता में अगर स्थित रह जाय अर्थात् यह लोलुपता से बच जाय तो बहुत जल्दी ब्रह्म को प्राप्त हो जाय। देरी का काम ही नहीं। यह तो योग हुआ। अब प्रश्न उठता है कि इसको काम में कैसे लावें?

इसके लिए एक बात आप धारण कर लें। दूसरों को सुख कैसे पहुँचे, दूसरों का हित कैसे हो, यह बात ठीक से समझ में आ जाय और आप ठीक से उसे करने लग जायँ, हर काम में दूसरों का आराम, भला, हित, सुख कसे हो—यह सोचने लग जाँय, तो बहुत जल्दी इस संयोगजन्य सुख की लोलुपता छूट जाय।

हमें तो इस बात का दुःख है कि सत्संग करते हैं, सत्संग में हो-हल्ला यानी रोला करते हैं। साधन करते हैं, तो केवल ऊपरी पाखंड की तरह करते हैं। यद्यपि दम्भ नहीं है, पाखण्ड नहीं है, दिखावटीपन तो है ही। भीतर में सत्संग नहीं है। सेवा करें तो भी दिखावटीपन। भीतर से लगन नहीं है कि दूसरों को सुख कैसे मिले!

यदि यह लगन लग जाय कि दूसरों को सुख कैसे हो, तो अपने सुख की इच्छा छूट जायेगी। एक ही बात रहे कि दूसरों को सुख देने के लिए हम अपना धन भी खर्च करें। हमारा मन भी उधर लग जाय और शरीर से भी हम श्रम करें। दूसरों को सुख हो जाय, ऐसी लगन लग जाय, तो यह प्रश्न हल हो जायेगा। यह खास उपाय है।

अभी राजस्थान में अकाल पड़ा हुआ है। गो-माताएँ मर रही हैं। कई गाँवों में कमजोरी के कारण गायें बैठ गयीं हैं। चारा न मिलने के कारण इतनी असमर्थ हो गयी हैं कि उठ भी नहीं

सकतीं। छोटी-छोटी अवस्था वाली बछड़ियां भी बैठी हैं, बड़ी बूढ़ी गायों की तो बात ही क्या! खाने को मिलता नहीं, तो क्या करें? खाने को मिले तो बहुत जल्दी वे तैयार हो जांय। छोटी अवस्था है, पर दशा यह है। अब उनकी सेवा करो। उनको सुख पहुँचाओ। उनके लिए कुछ करो। दो चार दस आदमी भी तैयार हो जांय कि हम गांवों में जायेंगे और ऐसी गायों को हम लायेंगे, जहाँ चारा मिलता हो, वहाँ गौ को पहुँचावेंगे अथवा वहाँ चारा पहुँचावेंगे। उनको देख-देख करके गाँवों से लाओ। हमारे साधु एक दो गायों को लाते हैं और गउओं की सेवा करते हैं। गांव वाले राजी होते हैं। जिन भाइयों ने ऐसी सेवा की है, उनकी सुख-लोलुपता मिटी है। उनसे हमारी बात हुई है।

शास्त्र ने यह उपाय बताया है। अनुभव भी आपको सुनाया। यह मौका है सेवा करने का। रात दिन यह लगन लग जाय कि गायों की सेवा कैसे हो। प्रत्यक्ष लाभ होता है, परन्तु करने को तैयार नहीं। अगर आप लोगों के किसी के मन में है कि हमें इस बात का अनुभव करना है तो इसी उद्देश्य को लेकर गौ-माता की सेवा करें। किसी काम में मनुष्य तो अपने लाभ के लिए ही प्रवृत्त होता है। कितना पैसा मिलेगा, कितना मान मिलेगा, कितना स्वास्थ्य मिलेगा?—ऐसे कुछ न कुछ लाभ के लिए वह प्रवृत्त होता है। विषयजन्य सुख की लोलुपता मिटाने के लिए, सुख की लोलुपता मिटाने के लिए वह सोच ले कि हमें गौओं को सुख पहुँचाना है। यह उद्देश्य रखकर अगर इस काम में लगा जाय तो हमें तो विश्वास है कि लाभ होगा। लाभ नहीं भी होगा, तो हानि तो नहीं होगी। हानि दीखे तो मत लगो, हानि न दीखे तो इसमें लगकर देखो। गौओं की सेवा से लाभ अवश्य होता है।

सेवा करने वाले आदमियों की कमी रहती है। आप सच्चे हृदय से चाहते हैं कि इसका अनुभव होना चाहिये, तो केवल इस

अनुभूति का उद्देश्य रखें कि हमारी सुख-लोलुपता मिटे। उस लोलुपता को मिटाने के लिए दूसरों को सुख पहुँचाना है। गौओं को सुख पहुँचाना है, गरीबों को सुख पहुंचाना है। इन सबको सुख देना है—सुख की अपनी आसक्ति मिटाने के लिए। ऐसे उद्देश्य से सेवा की जाय, तो मैं मानता हूँ कि लाभ अवश्य होगा। करके देख लो। कम से कम इतना तो है ही कि इससे हानि तो कोई है ही नहीं। सेवा धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः—सेवा धर्म बड़ा गहन है। भरत जी महाराज ने भी कहा कि सबतें सेवक धर्म कठोरा।

यह सेवक धर्म है कि सबको सुख पहुँचे। सेवा किसे कहते हैं? सेवा में सेवकपने का जरा भी अभिमान न हो और जिन साधनों से सेवा की जाय, उनको अपना कभी न माना जाय। जिनकी सेवा की जा रही है, उन्हीं की वस्तुएँ उन्हीं के काम में लग रही हैं। अपने कहे जाने वाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, योग्यता—किसी को भी अपनी न माने। सेवा से मुझे उत्पन्न और नष्ट होने वाली कोई वस्तु मिल जाय, यह भाव ही मन में न आवे। इसका नाम 'सेवा' है। इसी को 'कर्मयोग' कहते हैं।

सेवा करने वालों में भी सच्चे माने में सेवा करने वाले बहुत थोड़े होते हैं। अभी जो लोग सेवा कर रहे हैं, उनको किस रीति से सेवा करें, यह बात बताता हूँ। सेव्य को सुख कैसे हो, उसमें अपने मन की प्रधानता छोड़ दे। अपनापन बिल्कुल ही छोड़ दे। सेव्य के मन की तरफ देखे कि वे कैसे प्रसन्न होंगे। किस तरह से उनको सुख पहुँचे, उनका भला, हित कैसे हो—एक मात्र यही उद्देश्य रह जाय। गीताजी कहती है—ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः (गीता ५।२५ व १२।४)। सब प्राणियों के हित में जो रत हैं, वे परमात्मा को प्राप्त होते हैं। अतः जो दूसरों को, प्राणीमात्र को,

सुख पहुँचाने में लगे हुए हैं, वे परमात्म-तत्व की प्राप्ति कर लेते हैं।

मुझे व्याख्यान देते हुए कई वर्षों बाद यह बात ख्याल में आयी कि लोलुपता कैसे मिटे। हमारे मन में प्रश्न उठता था कि बीमारी क्या है? उपाय क्या है? इसकी जड़ कहाँ है? किस जगह से यह ठीक होगा? व्याख्यान देते वर्षों बीत गये, बात पकड़ में नहीं आयी कि कामना का क्या स्वरूप है? अपनी मनमानी चाहना ही कामना है। दूसरे के मन के अनुकूल करे, न्याययुक्त हो, शास्त्र-सम्मत हो, और अपनी सामर्थ्य के अनुरूप हो। ऐसी बात उनके मन की पूरी हो। यह है खास उपाय अपनी कामना के मिटाने का। किसी को शंका हो तो जांच ले। जहाँ जिस क्षेत्र में रहो, इसको करके देखो। गौओं की सेवा तो अब आयी हुई है, इसलिए चर्चा कर दी, नहीं तो जहाँ भी जिस क्षेत्र में हो, वहाँ ही इस उपाय को काम में लाकर जाँच लो। दूसरे को आराम कैसे मिले, केवल यह रति हो जाय। सबका हित कैसे हो, सबका कल्याण कैसे हो?—केवल यह लगन रहे। किसी को भी मेरे द्वारा कष्ट न पहुँचे, सुख ही पहुँचे।

सर्वभूतहिते रताः यानी प्राणीमात्र के हित में हमारी रति होनी चाहिये, वैसी जैसी गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने रामायण में कही है—

> कामिहि नारि पियारि जिमि लोभी के प्रिय दाम।
> तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम।

जैसे लोभी को पैसा प्यारा लगे, कामी को कामिनी प्यारी लगे, इसी तरह से दूसरे का हित प्यारा लगने लगे, फिर देखो तमाशा। बहुत शीघ्र काम होगा। यह बड़े महत्त्व का साधन है। वर्षों तक विचार और चिन्तन करने पर यह साधन मिला है।

१४. सत्संग की महत्ता

प्रश्न—आपको आध्यात्मिक लाभ कैसे हुआ ?

उत्तर—हमें तो सत्संग से लाभ हुआ है। मैं साधन को इतना महत्त्व नहीं देता हूं, जितना सत्संग को देता हूं। मुझे विशेष लाभ पुस्तकों और सत्संग से हुआ है। औरों के लिए भी मैं समझता हूं कि वे अगर मन लगाकर, गहरे उतर कर, सत्संग की बातें समझें तो बहुत भारी लाभ ले सकते हैं।

एक विशेष बात और है। मुझे जितने वर्ष लगे, आपको उतने वर्ष नहीं लगेंगे। इस विषय में आपको कठिनता मालूम दे रही है, इसलिए कह रहा हूँ। अगर आप सत्संग को महत्त्व दें और इन बातों का गहरा मनन करें तो बहुत जल्दी आपकी उन्नति हो सकती है। ऐसा मुझे स्पष्ट दीखता है।

मैं आप लोगों को अनधिकारी नहीं मानता हूँ। आप में कमी है, परन्तु कमी दूर करने की सामर्थ्य भी आपमें पूरी है। मेरी समझ से आप में इस विषय की केवल उत्कण्ठा की कमी है। उत्कण्ठा जाग्रत हो जाय, तो कोई पापी से पापी हो, मूर्ख से मूर्ख हो और किसी के पास थोड़े से थोड़ा समय हो, तो भी उसका उद्धार हो जायगा। संसार के भोगों को पाने की जो लगन है, इसको कृपा करके छोड़ दो।

> कबीर मनवा एक है, भावे जहाँ लगाय।
> भावे हरि की भक्ति कर, भावे विषय कमाय।

संग्रह और भोग में जो लगन लगी है, इसको मिटा दो। बस, इतना-सा काम है। फिर परमात्मा की लगन स्वतः लग जायेगी।

इतना रुपया हो गया, इतना और हो जाय, इतना और हो जाय,—एक यह लगन है। एक यह है कि सुख भोग लें, ऐश आराम कर लें, मान मिल जाय, बड़ाई मिल जाय, निरोगता मिल जाय, समाज में मेरा स्थान बन जाय, हम ऐसे बन जाँय—ये जितनी इच्छाएँ हैं, इनका त्याग कर दो। बस, फिर आपको परमात्मा-प्राप्ति की लगन अपने-आप लग जायेगी। कह सकते हो कि जितनी लगन लगनी चाहिये, उतनी नहीं लग रही है; तो भाई, जितना त्याग होना चाहिये, उतना त्याग नहीं हो रहा है। मन में त्याग है ही नहीं। त्याग क्या है? गीताजी ने जगह-जगह इच्छाओं को त्यागने की बात कही है। इच्छा क्या है? यह होना चाहिये और यह नहीं होना चाहिये—यह ही इच्छा का स्वरूप है। इसको त्याग दो तो कितना भारी लाभ हो जाय! गीता कहती है कि जो मनुष्य सम्पूर्ण इच्छाओं का त्याग देता है, वह स्थितप्रज्ञ है यानी भगवत-प्राप्त पुरुष है।

जरा विचारो कि इच्छा से कुछ मिलता तो है नहीं, केवल अपनी फजीहत ही होती है। इच्छा मात्र से शरीर का, कुटुम्ब का पालन-पोषण होता नहीं। पैसा का पैदा होना इच्छा पर बिल्कुल निर्भर नहीं है। पदार्थों की प्राप्ति होती है, पूर्व के कर्मों से और अभी के कर्मों से। पदार्थों का और कर्मों का घनिष्ट सम्बन्ध है। पदार्थों का इच्छा से बिल्कुल सम्बन्ध नहीं है।

अब इस बात को आप समझने की कृपा करें। इच्छा के साथ पदार्थों का सम्बंध नहीं है। आप में से कोई कह सकता है कि क्या हमने इच्छा नहीं की, इसलिए निर्धन रहा? इच्छा कर लेते तो धनवान् हो जाते! इसलिए आप को यह बात जँचती है न कि इच्छाओं के साथ पदार्थों का सम्बन्ध नहीं है? पदार्थों का सम्बन्ध कर्मों के साथ है, क्योंकि क्रिया और पदार्थ दोनों प्राकृतिक चीजें

हैं। दोनों एक तत्व हैं। पदार्थों का सम्बन्ध कर्मों के साथ है, चाहे वे कर्म पूर्व के हों या वर्तमान के। पूर्व के कर्मों को 'प्रारब्ध' कहते हैं और वर्तमान के कर्मों का नाम 'पुरुषार्थ' है। अतः पुरुषार्थ हो तो कर्म और प्रारब्ध हो तो कर्म। कर्मों के साथ पदार्थों का सम्बन्ध है। इच्छा के साथ इनका सम्बन्ध बिल्कुल नहीं है।

इच्छा करूँ कि मेरा पालन-पोषण हो जाय, तो क्या इस प्रकार इच्छा करने से मेरा पालन-पोषण हो जायेगा? घण्टा भर सब मिल करके इच्छा करो कि इसके कुटुम्ब का पालन-पोषण हो जाय, कौड़ी एक मत दो, पुरुषार्थ करो मत। कुटुम्ब का पालन-पोषण ऐसी इच्छा करने से हो जायेगा? कदापि नहीं। अतः इच्छा के साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। इच्छा के साथ सम्बन्ध है, केवल परमात्मा की प्राप्ति का। परमात्मा की प्राप्ति की केवल उत्कट अभिलाषा होनी चाहिए तो उस तत्व की प्राप्ति हो जायेगी।

प्रश्न—ऐसी बात क्यों है?

उत्तर—पदार्थों से हमारा वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, हमारा अलगाव है। उनसे देश काल की दूरी है। अतः उनकी प्राप्ति कर्मों से होगी। परमात्मा से देश काल की दूरी नहीं है। वस्तु व्यक्ति से दूर नहीं। "मैं" "मैं" जहाँ से कहते हैं, वहाँ भी वह परिपूर्ण है; सर्वत्र और सदैव वह परिपूर्ण है। सर्वत्र सदैव यानी देश और काल उसके अन्तर्गत हैं। वह सर्वत्र मौजूद है। जहाँ उत्कट इच्छा हुई, वहाँ ही प्रकट हुए। रुपये भगवान् की तरह सर्वत्र परिपूर्ण थोड़े ही हैं! वे तो पैदा करने से होंगे। पैदा करना कर्म से होगा। अतः कर्मों से पदार्थ मिलते हैं, परन्तु परमात्मा पदा नहीं करने पड़ते हैं। उनका नया निर्माण नहीं करना पड़ता। उनमें कुछ परिवर्तन नहीं करना पड़ता। उनसे देश काल की दूरी नहीं। इसलिए उनके लिए कर्मों की आवश्यकता नहीं। वे तो केवल इच्छा मात्र से मिलते हैं। और कोई भी संसार की वस्तु इच्छा मात्र से नहीं मिलती।

वास्तव में तो परमात्मा मिले हुए ही हैं। इच्छा मात्र से कहने में भाव है कि संसार की इच्छा मिटाने में परमात्मा-प्राप्ति की इच्छा करने की सार्थकता है। परमात्मा से मिलने के लिए किसी इच्छा की भी आवश्यकता नहीं। वे तो हैं। ज्यों के त्यों हैं। सर्वत्र परिपूर्ण हैं। सदा ही मिले हुए हैं। परन्तु संसार की इच्छाएँ रहने के कारण उनकी अनुभूति नहीं होती। इसलिए संसार की इच्छाओं को मिटाने में परमात्मा की प्राप्ति की इच्छा आवश्यक है।

संसार की वस्तुओं की प्राप्ति के विषय में नियम है कि इच्छा करो, पुरुषार्थ करो और प्रारब्ध का संयोग होगा तो मनचाही वस्तु मिलेगी। तीनों का संयोग होगा तो वस्तु मिलेगी। आप कह सकते हो कि बड़ा परिवार है, रोटी-कपड़े की तंगी है, काम चलता नहीं, इच्छा बिना कैसे रहें ? तो इच्छा से थोड़े ही मिलेगा ! काम करने की इच्छा करो, निकम्मे मत रहो। निरर्थक मत रहो। झूठ कपट बेईमानी मत करो। ठगी धोखेबाजी मत करो। न्याययुक्त काम करो। मन में रुपयों को महत्त्व मत दो।

लोभ है, संग्रह करने की इच्छा है, इसका त्याग कर दो। नया प्रारब्ध बन जायेगा, नया। जो प्रारब्ध में लिखा नहीं है, वह आ जायेगा। परन्तु आपके लोभ का त्याग हो जाना चाहिये। रुपयों-पैसों का अन्तःकरण में महत्त्व न रहे और अपना कर्तव्य ठीक तरह से पालन करो। बेईमानी बिलकुल न करो। न्याययुक्त काम करो। इतना दृढ़ निश्चय हो कि चाहे मर जायेंगे बेशक, पर पाप नहीं करेंगे, अन्याय नहीं करेंगे। झूठ, कपट, जालसाजी नहीं करेंगे, नहीं करेंगे। मर जायें तो क्या फरक पड़ेगा ? मरना तो एक बार है ही। झूठ, कपट, बेईमानी करके मरोगे तो पाप की पोटली लेकर मरोगे। बिना पाप किये हल्के हल्के जल्दी ही मर जायें, तो हर्ज क्या हुआ ?

पाप इकट्ठा मत करो। अगर पाप किये बिना पैसा न मिलता हो तो भूखे भले मर जाओ। इससे नरकों में नहीं जाओगे। पाप करके जीओगे तो नरकों में जाओगे ही। बच नहीं सकते। ब्रह्माजी भी बचा नहीं सकते।

आप लोग सत्संग करने वाले हो। सब समझते हो। मेरी बात को ठीक से समझो। सो कर्तव्य करने की इच्छा करो। निकम्मे मत रहो। आप लोगों को चार बातें कहता हूँ, इन पर ध्यान दो :

(१) आप सारा समय अच्छे से अच्छे, ऊँचे से ऊँचे काम में लगाओ। निकम्मे मत रहो। निरर्थक समय बरबाद मत करो। ताश चौपड़, खेल-तमाशा, बीड़ी-सिगरेट, सिनेमा-नाटक देखना—ये सब व्यर्थ के काम हैं। ये तमोगुणी कार्य हैं। **अधोगच्छन्ति तामसाः** (गीता १४।१८)। यह दशा होगी, यानो नरकों में जाना पड़ेगा। ऐसे कामों में समय मत लगाओ। शरीर का निर्वाह हो, परमात्मा की प्राप्ति हो, स्वास्थ्य ठीक रहे, दुनिया का हित हो, ऐसे कार्यों में लगे रहो। व्यर्थ समय बरबाद मत करो।

(२) जिस काम को करो, सुचारु रूप से करो कि जिससे मन में सन्तोष हो। दूसरे भी कहें कि बहुत अच्छा करता है। लिखना हो, पढ़ना हो, मुनोमी करना हो, बिक्री करना हो, खरीदी करना हो, संसार का जो काम करना हो, बड़े सुचारु रूप से सुसंगत रूप से करो। माता-बहिनें रसोई अच्छी तरह से पकायें; सामग्री चाहे सादी से सादी हो, परन्तु बढ़िया ढंग से बनायें। ठीक तरह से भोजन परोसें, सबको सन्तोष कैसे हो, सबको किस तरह से सुख पहुँचे, ऐसे ढंग से काम करो।

(३) इस बात का ध्यान रखें कि दूसरे का हक न आ जाय। और का हक कभी भी न आने दें। बिल्कुल किञ्चिन्मात्र भी दूसरे का हक आना नहीं चाहिये, आपका हक भले ही चला जाय। इस बात की बड़ी भारी सावधानी रखो।

(४) अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए कम से कम खर्च करो। शरीर-निर्वाह के लिऐ, खाने-पीने के लिए, ओढ़ने-पहनने के लिए साधारण रीति से खर्च करो। काम चलाना है। ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी, नहीं करनी है। यदि आप ऐसे काम करोगे तो आपको घाटा नहीं रह सकता। करके देख लो।

आजकल लोग कहते हैं कि क्या करें, निठल्ले बैठे हैं, काम नहीं है। यह बिल्कुल फालतू बात है। निकम्मे क्यों बैठे हो ? नाम-जप करो; कीर्तन करो, गीता-रामायण का पाठ करो। काम करो। घर में झाड़ू लगाओ, बर्तन धोओ, जूते ही साफ करो। नालियाँ ही साफ करो। टट्टी पेशाब की जगह साफ करो। पानी डालकर स्वच्छ करो। निर्मल करो। कुछ न कुछ करते रहो। करना चाहो तो बहुत काम निकल सकता है। सेवा का काम करने से अन्तःकरण निर्मल होगा। व्यर्थ समय बरबाद मत करो। मानव शरीर का समय बरबाद करने के लिये नहीं है। तेली के घर में तेल होता है, तो लोटा भरके पैर धोने के लिए थोड़े ही है !

भगवान् ने मानव शरीर दिया है। इस मानव शरीर में विवेक दिया है। विवेक दिया है, समय का सदुपयोग करने के लिए, न कि फालतू घूमने के लिए या सिनेमा देखने को, ताश-चौपड़ खेलने में बर्बाद करने को। मानव शरीर सबसे श्रेष्ठ है। मानव जीवन का समय श्रेष्ठ से श्रेष्ठ उपयोग करने के लिए है। उस समय को बरबाद करना बड़ा भारी नुक्सान है। रुपया फिर पैदा कर सकते हो, जवान बेटा मर जाय तो छोटे बालक जवान हो सकते हैं। गृहस्थियों के नये पैदा हो सकते हैं, पर उम्र किसी तरह से पैदा नहीं हो सकती। वह तो नष्ट ही होती है। ऐसे ही उसको बर्बाद करते हो ! पैसों का खर्च करते समय ख्याल रखते हो। सोच समझ कर एक-एक पैसा खरचते हो और समय योंही बरबाद कर देते हो !

हवाई जहाज देखनें में समय लगा दिया। क्या फायदा हुआ, जरा सोचो। उससे स्वास्थ्य सुधरा ? समाज सुधरा ? रुपये मिले ? भगवान् मिले ? क्या मिला ? आयु रूपी अमूल्य धन जो आपको मिला हुआ है, इसको बरबाद क्यों करते हो ? सावधान रहो। यदि आप समय बरबाद नहीं करेंगे, अच्छे से अच्छे काम में समय को लगायेंगे, तो आपकी लौकिक, पारलौकिक उन्नति अवश्य होगी। इसमें मुझे सन्देह नहीं है। आप किसी भी क्षेत्र में जाओ, आपकी उन्नति होगी। नास्तिक से नास्तिक आदमी भी यदि सोच समझ कर समय का सदुपयोग करेगा तो उसकी धारणा के अनुसार, क्रिया के अनुसार उसकी उन्नति होगी। यदि आस्तिक मनुष्य इस प्रकार विचार कर समय का सदुपयोग करेगा तो उसे भगवत्प्राप्ति हो सकती है। सावधानी की आवश्यकता है। बे-परवाही गफलत में समय बरबाद हो सकता है, इसलिए प्रमाद मत करो।

दूसरे का हक मत आने दो। अपने से भिन्न दूसरे जितने भी लोग हैं, किसी के हक का मत लो। अपने से स्त्री दूर कहलाती है। स्त्री का जो अधिकार है, उसकी पूर्ति करो। उसका हक मत छीनो। पुत्र आप से दूर है, तो पुत्र का पालन-पोषण, शिक्षण बढ़िया से बढ़िया करो। पिता का पुत्र के प्रति जो कर्तव्य है, उसका पूरा पालन करो। माता-पिता की पूरी सेवा करो। स्त्री के प्रति कर्तव्य है, वह भी पूरा पालन करो। किसी का अधिकार मत लो। हक मत छीनो। पड़ोसी है, व्यापारी है, जिनसे व्यवहार व्यापार आदि करते हैं, उनका हक हमारे में नहीं आना चाहिये। उनके साथ प्रेम ईमानदारी-पूर्वक सच्चा व्यवहार करो। परन्तु इतना करने पर भी ऋण पूरा नहीं चुकेगा। उनसे कोई आशा न रखने से नया ऋण नहीं चढ़ेगा। सावधानी करने पर पता लगेगा

कि हम कहाँ हक मार रहे हैं। अभी तो पता ही नहीं लगता। अभी कहा जाय तो उत्तर आयेगा कि 'हम तो किसी का हक लेते ही नहीं। हम तो ठीक करते हैं। हम पाप करते ही नहीं।' कई मिलते हैं, वे कहते हैं—'भजन करने की क्या जरूरत है? हम पाप तो करते ही नहीं।' ऐसे व्यक्ति मुझे मिले हैं। उन्होंने कहा कि 'भगवान् का भजन वह करे, जो पाप करता है; हम तो पाप करते ही नहीं। तब भजन की क्या जरूरत?' उनको पता ही नहीं है कि पाप क्या होता है, अन्याय क्या होता है!

सावधानी क्या रखनी है? सावधानी यह कि आपने अभी जो चार बातें सुनीं, उनमें से एक-दो चुन लो। सावधानी यही कि अब उम्र भर इनका पालन होगा। अब ऐसा ही करेंगे। गफलत नहीं करेंगे। ऐसे ही सुनने में सावधान रहो। मैंने कहा कि पैसों का, पदार्थों का सम्बन्ध, इच्छा अथवा चिन्तन से नहीं है, उनका कर्मों के साथ सम्बन्ध है। इस बात को समझने की बड़ी भारी आवश्यकता है। आप कह सकते हैं कि इच्छा, चिन्तन के बिना कैसे काम चल सकता है? हमको तो व्यापार करना है, कई धन्धे हैं, कई बातों का चिन्तन करना पड़ता है।

चिन्तन क्यों करना पड़ता है? चिन्तन करना तो मूर्खता ही है। चिन्तन करने से क्या लाभ होगा? केवल शक्ति का अपव्यय होगा। काम करना पड़ता है, सेवा करनी पड़ती है, यह तो ठीक है। चिन्ता आ जाती है। आ जाती है तो चिन्ता छोड़ो, काम करो। चिन्ता करने से बुद्धि नष्ट होती है। शान्ति से विचार करो, विचार करने से बुद्धि विकसित होती है। चिन्ता और चीज है, विचार और चीज है।

काम किस रीति से करें? किस रीति से कुटुम्ब का पालन करें? व्यवहार करें? व्यापार करें? किस तरह सबके साथ प्रेम

का सम्बन्ध रखें—इन सब बातों का शान्त चित्त से विचार करना चाहिये। इससे बुद्धि विकसित होती है। सामर्थ्य का विचार किये बिना कर्म करने को 'तामस कर्म' कहा गया है।

इतना बड़ा कुटुम्ब है, पैदा है नहीं। हाय, क्या करें! इस प्रकार चिन्ता करके दुःखी होने से बुद्धि नष्ट होती है। इससे काम करने में बाधा लगेगी। ऐसी सावधानी रखो। विचार तो करो, पर चिन्ता बिल्कुल मत करो।

एक भाई ने पूछा कि इतना बड़ा कुटुम्ब है, पालन हो नहीं पाता, चिन्ता तो हो ही जाती है। बहुत ठीक है। यह एकदम जीवन की समस्या है। ऐसे प्रश्न मुझे बहुत अच्छे लगते हैं, फिर मैं उत्तर दे सकूँ अथवा न दे सकूँ, यह बात अलग है। नहीं दे सकूंगा तो पुस्तक देखूँगा, चिन्तन करके बताऊंगा। मेरा भी विकास होगा, आपका भी विकास होगा।

उद्योग करो। पुरुषार्थ करो। निकम्मे मत रहो। पुस्तकें पढ़ो। स्वयं विचार करो। आपस में विचार-विनिमय करो। सत्संग की बातों को सावधानी से सुनना और उनके अनुसार काम करना और जीवन को उन्नत बनाना चाहिए। बाधाएँ आवें, इनको सुलझाकर पुनः चेष्टा करो। इस प्रकार सत्संग से लाभ लो। भगवत्प्राप्ति सत्संग से बहुत शीघ्र सुगमता से हो सकती है। सत्संग की महत्ता कहाँ तक कही जावे!

———

१५. 'सर्व भूत-हिते रताः'

जीव मात्र सुख चाहता है। सुख भी कैसा ? जिसमें किसी प्रकार की कमी न रहे और जिसका नाश न हो। जीव ऐसा अक्षय और अनन्त सुख चाहता है। इसीका नाम 'मुक्ति' है। दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाना और आनन्द की प्राप्ति हो जाना ही मुक्ति है। भगवद्गीता में छठे अध्याय का २२वाँ श्लोक बड़े काम का है। अपनी स्वयं की कसौटी कसने के लिये इस श्लोक को पहला स्थान दे दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्-स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

(६।२२ गीता)

जिस लाभ के प्राप्त होने के बाद फिर और कोई लाभ हो सकता है, ऐसा उसके (लाभ प्राप्त होनेवाले को) मानने में भी नहीं आ सकता। इतना लाभ और जिसमें स्थित होने पर वह बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं किया जा सकता, किसी कारण से शरीर के टुकड़े किये जायँ, दो पहाड़ों के बीच में आ जाय, ऐसी स्थिति में भी उसकी शान्ति अथवा जो आनन्द है, उसमें कभी भी कमी न आवे।

तं विद्यात् दुःख संयोग वियोगं —(६।२३)

दुःख का स्पर्श ही नहीं होता, ऐसा बड़ा भारी लाभ हो जाय।

यह जो 'मुक्ति' कहलाती है, दुःखों से, कर्मों से, जन्म-मरण से मुक्त हो जाना, छूट जाना,—यह बड़ी सीधी और सरल बात है। शास्त्रों में दोनों बातें आती हैं। कठिनता की बात भी आती है

और सुगमता की बात भी आती है। "सु सुखम् कर्तुम्"—बड़ी सुगमता से किया जा सकता है। अविनाशी है, प्राप्त होने के बाद विनाश होता ही नहीं। ऐसी सुगम बात है। जो संसार आज अपना दीखता है, शरीर है, कुटुम्ब, धन-सम्पत्ति, मकान-जमीन आदि अपना दीखता है कि यह मेरा है, यह सब पहले अपने साथ था नहीं और बाद में भी रहेगा नहीं। जो अपने साथ नहीं रहेगा, उसको अपना मान लेना—यही बन्धन है। गीता में बन्धन से छूटे हुए गुणातीत पुरुष के लक्षणों में आता है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ १४।२४
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ १४।२५

गुणातीत के सुख-दुःख में भी समता रहती है। उसके अन्तःकरण में हानि-लाभ में भी समता रहती है। निन्दा-स्तुति में भी समता रहती है। वह स्वतः अपने स्वरूप में स्थित है। जिन रुपयों में अपनापन नहीं है, जिन मकान-जमीन में अपनापन नहीं है, जिन कुटुम्बियों में अपनापन नहीं है, उनके बनने-बिगड़ने का असर अपने ऊपर नहीं पड़ता। संसार में अरबों आदमी हैं, कि उनके जीने-मरने का हम पर कोई असर नहीं पड़ता। सुन लेते हैं कि किसी स्थान पर इतने आदमी मर गये, ऐसा हो गया। बस ! राम-राम-राम—ऐसा कह देते हैं। हृदय पर इतनी चोट नहीं पहुँचती। कोई अनजान धनी हो जाय, तो उससे कोई खुशी भी नहीं होती। उनके सुख-दुःख हानि-लाभ में हमें समता है। यों संसार के बहुत से धन से, मकानों से, कुटुम्बियों से हम मुक्त हैं हीं। थोड़े-से रुपयों, थोड़ी-सी जमीन और थोड़े-से मनुष्यों में ही हम बंधे हुए हैं। तो ज्यादा मुक्ति तो हो चुकी। बस, थोड़ी-सी बाकी है।

अब हिम्मत करके इनमें भी ऐसा कर लें कि समता हो जाय। करने में कोई कठिनता भी नहीं है; क्योंकि धन, मकान, कुटुम्ब पहले अपने थे नहीं और बाद में अपने रहेंगे नहीं। इनके प्रति हमारी यह भावना रहती है कि ये बने रहें—यही बन्धन है। यह भावना आज तक किसी में सिद्ध हुई नहीं है। कभी, हमेशा के वास्ते किसी के साथ में पदार्थ और व्यक्ति रहे नहीं हैं। हम भी जानते हैं कि ये नहीं रहेंगे, फिर भी भावना रहती है कि ये हमारे साथ बने रहें—यही बन्धन है।

कितनी सुगम बात है! पहले थे नहीं, बाद में रहेंगे नहीं। उनके रहने और न रहने में अपना आग्रह छोड़ दें, तो अपना क्या बिगड़ जायगा? दुनियां के अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं से हम मुक्त हैं, छूटे हुए हैं, उनका बन्धन नहीं है। यदि थोड़ी-सी चीजों को भी बहुत के साथ मिला दें, अथवा इनसे आसक्ति उठा दें तो हम मुक्त हो जायँ। वैसे तो मुक्त हम हो ही चुके हैं। जिस समय हम पैदा हुए थे, उस समय हमारी जितनी आयु थी, अब उतनी नहीं है। जीवन के बीते हुए दिन कम हो गये, मृत्यु समीप आ गयी है। छूटने का दिन समीप आ रहा है। रोज छूट ही रहे हैं। वह दिन आये; उससे पहले ही हम मन से इन्हें छोड़ दें तो निहाल हो जायँ।

अपने माने प्राणी पदार्थों का वियोग होने वाला है, अवश्यम्भावी है। यह तो नियम है कि वियोग होगा और होगा; नहीं, हो रहा है। जिस घर में आप रह रहे हैं, और ६० वर्ष रहना है, तीस वर्ष बीत चुके हैं, अब ६० वर्ष तो रहेंगे नहीं, (आज आधा तो बीत चुका अर्थात् आधे मर चुके) अब तीस वर्ष तो पूरे हो गये और शेष ३० वर्ष रहेंगे। जो बीता है वह भी एक, एक दिन करके बीता है। हम रह रहे हैं, हम जीवित हैं, जी रहे हैं। इस तरफ

वृत्ति है। हम तो हर समय जा रहे हैं, मर रहे हैं। यह बात सच्ची है। परन्तु यह मानना बुरा लगता है। परन्तु बुरा लगे तो क्या करें? बात तो सच्ची और पक्की है। ७० वर्ष जीने वाला मनुष्य है और वह ४० वर्ष का हो गया तो क्या आगे ७० वर्ष जियेगा? अब तो ३० वर्ष ही रहे उसके जीवन के। इन वर्षों में दिन प्रति दिन उम्र खत्म हो रही है।

यह तो दिन प्रति दिन जा रहा है, मर रहा है। एक दिन ऐसा होगा कि लोग कहेंगे कि आज मर गया। तो, वह आज नहीं मरा, जिस दिन जन्मा, उसी दिन से मरना शुरू हो गया। मरते-मरते आज पूरा हो गया। जैसे वह चला गया, ऐसे ही सभी जाने वाले हैं। आप अपनी तरफ से उनका साथ छोड़ दें। वे सदा हमारे साथ रहेंगे नहीं। (साथ छोड़ने का अर्थ यह है कि यह भावना हटावें कि ये सदा बने रहेंगे)। यह आग्रह हम छोड़ दें कि सदा साथ रहेंगे तो क्या हर्ज है? ज्यादा चाहने से अधिक दिन रह जायेंगे और न चाहने से थोड़े दिन रहेंगे, चले जायेंगे, ऐसी बात नहीं है। जितने दिन रहना है, जितनी उम्र है, उतने दिन तो रहेंगे ही। इच्छा हो कि अधिक बने रहें, और ऐसी स्थिति में चले जायेंगे तो मन को बड़ा संताप होगा। पहले से हम छोड़ दें तो यह शरीर चला जाय, परवाह नहीं। रहे तो भी मौज है; और चला जाय तो भी मौज है। क्योंकि, यह तो हम पहले ही जानते थे। तो यह ज्ञान दृढ़ता से मान लें कि यह अवश्यम्भावी है, होने वाला ही है। ऐसा सोच लेने से बड़ी शान्ति होती है, यह हमारा अनुभव है। हमारा आपका सबका यह अनुभव है। सूर्योदय होता है, सूर्य उगता है, तो सब अपने-अपने काम में लग जाते हैं। प्रकाश हो जाता है, दीखने लग जाता है।

जब सूर्यास्त हो जाता है, तो रात हो जाती है। सब

काम-धन्धे बन्द हो जाते हैं। दीखना बन्द हो जाता है। अन्धेरा हो जाता है। जब कोई खास आदमी मर जाता है तो कहते हैं कि क्या करें, हमारे तो अन्धेरा हो गया। अरे! दुनियां-मात्र के अन्धेरा हो गया तो रोते ही नहीं! सूर्यास्त होने से सबके घरों में अंधेरा हो गया। आदमी के मरने पर एक ही घर में अंधेरा हो गया, यह तो दीखता है; पर सूर्यास्त होने पर सारी दुनियां के अन्धेरा हो गया, यह नहीं दीखता। फिर भी रोते नहीं! कारण क्या है? यही कि सूर्य उगता है, तो भावना रहती है कि समय पर सूर्यास्त होगा। जल्दी काम कर लो, सूर्य रहते-रहते। घर का काम हो, खेत का हो, कोई काम हो तो पूरा कर लो। यह तो अवश्य ही अस्त हो जायेगा। यह भावना पहले रहने के कारण सूर्यास्त होने पर अंधेरा होने पर संताप नहीं होता।

अंधेरा होने पर हम कहते हैं--दियासलाई लाओ, भैया। दिया चासो। मोमबत्ती लाओ, प्रकाश करो, बिजली जलाओ। जो भी करो, परन्तु रोते तो नहीं। क्यों नहीं रोते? यह तो होने वाला ही था। इस वास्ते सन्तों ने कहा है कि :

> उगा सो ही आथ में और फूला सो कुम्हलाय।
> चिण्या सो ही ढह पड़े और जाया सो मर जाय।

उगे सो आथ में और फूला सो कुम्हलाय—दुनियां में बड़े-बड़े रूख हैं, वृक्ष हैं, सो ढह पड़े। जो जन्मा है, सो मरता है। तो, मरने में कौन-सी नयी बात हो गयी? परन्तु आशा करना, यह दुःख का कारण है। बूढ़ी-बूढ़ी माई रोती हैं और कहती हैं कि हमने ऐसा नहीं जाना था कि गलनी माटी रहेगा। हमारे सामने यह बालक चला जायेगा। हमने ऐसा नहीं समझा था कि जवान बेटा चला जायेगा। समझा नहीं था, तो गलती तो समझने की ही हुई, जाने की गलती तो हुई नहीं। वह तो अपने समय पर चला गया।

पहले ऐसा नहीं समझा था, तो अब समझ लो।' मैंने अपने कानों से लोगों को कहते स्वयं सुना है—'महाराज, गलनी माटी रहा।' तो पक्की माटी के कौन हैं? सबके सब तो गलनी माटी के ही हैं! कब तक रहेंगे? रहने का कोई भरोसा नहीं है। जाने की बात अवश्य है। जायेंगे जरूर, रहेंगे नहीं। इसलिए सबके साथ उत्तम-बढ़िया से बढ़िया बात करो—

सबसे हिल-मिल चालिये, नदी नाव संयोग।

जैसे, नदी के उस पार जाना है, तो उसे पार करने के लिए नाव में बैठे। कई लोग बैठे। बाद में सब अपना-अपना रास्ता लेते हैं। इसी प्रकार इस घर में आकर बैठ गये, फिर सब अपना अपना रास्ता लेंगे। नदी-नाव संयोग है, तो सब से हिल मिल चालिये। सब से अच्छा से अच्छा, उत्तम से उत्तम बर्ताव करो। रहने का कोई भरोसा नहीं है, जाने की बात पक्की है। रहने की बात कच्ची। पर हमने कच्ची को पक्की मान लिया और पक्की को कच्ची मान लिया। इसी से रोना पड़ता है, गलती तो अपनी ही है। इस वास्ते पहले से समझ लो कि यह नेह सनेह टूटने का है। यह तो रहने का है नहीं। याद रखो कि यह मृत्यु-लोक है, मरने वालों का लोक है। यह मरण-धर्माओं का संसार है। इसमें सबके सब मरने वाले ही रहते हैं। कोई भी रहने वाला नहीं रहता। फिर आप कहाँ रह जायेंगे? कैसे रह जायेंगे? यहाँ तो सबके जाने वाले ही हैं। इस बात को, इस भाव को दृढ़ता से हृदय में धारण कर लो और सबसे बर्ताव अच्छे से अच्छा करो। क्यों किसी से बुरा बर्ताव करो! थोड़े दिन रहना है। उत्तम बर्ताव करो। श्रेष्ठ बर्ताव करो।

अब हमें एक कहानी याद आ गयी। सुनी हुई कहानी है—

एक हाथी था। हाथी मर गया तो वह गया धर्मराज के यहाँ।

धर्मराज ने पूछा—'अरे, तुझे इतना बड़ा शरीर दिया, जितने भी शरीरधारी हैं उनमें सबसे बड़ा शरीर दिया और तू मनुष्य के बस में हो गया। तेरे एक पैर जितना था मनुष्य। हाथी का एक पग है ना, उतना ही मनुष्य। उसके बस में तू हो गया'! तो वह बोला कि 'महाराज, यह मनुष्य ऐसा ही है। बड़े-बड़े इसके बस में हो जाते हैं।'

धर्मराज ने कहा-'हमारे यहाँ अनगिनती लोग आते हैं।' हाथी ने जवाब दिया—'मुर्दे आते हैं। जो जीता आवे तो पता लगे।'

धर्मराज ने दूतों से कहा—'रे, एक जीता आदमी ले आओ।' दूतों ने कहा—'ठीक है'। दूत तो घूमते ही रहते थे। गर्मियों के दिनों में छत के ऊपर एक कायस्थ सोया हुआ था। उसकी खाट उठा ली। खाट उठा कर ले चले।

उसकी नींद खुली। बात क्या है? ये ग्रन्थ लिखनेवाले थे। लेखन कार्य करनेवाले थे। ग्रन्थों में दूतों के लक्षण आते हैं। देखा कि ये तो धर्मराज के दूत उठाये ले जा रहे हैं।

उसने जेब से कागज निकाला और कुछ लिख लिया और जेब में रख लिया। सोचा, हम चीं-चपड़ करेंगे, गिर जायेंगे तो हड्डियां बिखर जायेंगी। जो होगा सो देखा जायेगा। खाट पर वह पड़ा रहा बेचारा।

सुबह होते ही दूत पहुँचे। धर्मराज की सभा लगी। दूतों ने खाट नीचे रखी। उसने जेब से तुरन्त कागज निकाला और दूतों को दे दिया कि धर्मराज को दे दो। उसमें विष्णु महाराज का नाम लिखा था। उन्होंने धर्मराज जी को दे दिया। धर्मराज जी ने पत्र पढ़ा। उसमें लिखा था—"धर्मराज जी से नारायण की यथा योग्य। यह हमारा मुनीम आता है, इसके द्वारा ही सब काम करना।" दस्तखत—'नारायण, वैकुण्ठपुरी।' पत्र पढ़ कर धर्मराज

बोले—"आइये महाराज, (गद्दी छोड़ दी) गद्दी पर बैठो ।" गद्दी पर बिठा दिया कि भगवान् का हुक्म है ।

अब आया दूसरा आदमी । यह कौन है ? कहा—'महाराज ! डाका डालने वाला है । बहुत लोगों की हत्या की है । बहुतों को लूट लिया, बहुतों को मार दिया । इसको क्या दण्ड दिया जाय ?' कहा कि 'इसे वैकुण्ठ भेजो ।' भेज दिया ।

यह कौन है ? 'महाराज । यह दूध बेचने वाली है । इसने पानी मिला कर दूध दिया, बालकों के पेट बढ़ गये, बीमारियां फैल गयीं । ऐसा काम किया इसने । इसे क्या करें ?' 'कहा कि 'वैकुण्ठ में भेजो ।'

यह कौन है ? 'झूठी गवाही देकर बेचारे लोगों को फंसा दिया । बन्द करा दिया । क्या किया जाये ?' बोले—'पूछते क्या हो ? वैकुण्ठ में भेजो । भगवान् के दरबार में भेजो ।'

व्यभिचारी आवे, झूठा आवे, हिंसा करने वाला आवे, भिखारी-पापी, अभक्ष्य खाने-पीने वाला आवे, कोई भी, जो भी आवे, उसके लिये—'वैकुण्ठ में भेजो । वैकुण्ठ में भेजो ।'

अब धर्मराज क्या करें ? गद्दी पर जो मालिक कह रहा है, सो ठीक । वैकुण्ठ में कतार लग गयी ।

भगवान् ने कहा—अरे, इतने लोग यहाँ कैसे आ रहे हैं ? कहीं मृत्युलोक में कोई महात्मा प्रकट हो गये ? बात क्या है ? जो सभी लोगों को वैकुण्ठ में भेज रहे हैं । कहां से आ रहे हैं ? देखा कि ये तो धर्मपुर से आ रहे हैं । तो क्या बात है ? पता नहीं, क्या बात है ! आ तो रहे हैं ।

भगवान् धर्मराज के यहाँ पहुँचे । पूछा, 'बात क्या है ? इतने धर्मात्मा हो गये ? इतने पुण्यात्मा हो गये ?'

भगवान को देख सब वहाँ खड़े हो गये ! धर्मराज भी खड़े हो गये । वह भी खड़ा हो गया । धर्मराज से पूछा—'धर्मराज ! आपने

सबको वैकुण्ठ भेज दिया। क्या इतने लोग धर्मात्मा और पुण्यात्मा हो गये ?'

धर्मराज ने कहा—'मेरा काम नहीं है यह, आपने जो मुनीम भेजा है, यह उसका काम है ?' पूछा—'तुझे किसने भेजा ?' बोला-'आपने।' 'हमने कैसे भेजा ?' उत्तर दिया कि—'मेरे क्या बाप के हाथ की बात है, जो यहाँ आ जाता ? आपने ही भेजा। आपकी मर्जी के बिना कोई काम होता है ? कोई मेरे बल से हुआ है क्या यह ?'

'ठीक है। तो तूने यह क्या किया ?'

'क्या किया महाराज ? क्या किया मैंने ?'

'तूने सबको वैकुण्ठ में भेज दिया !'

'यदि वैकुण्ठ में भेजना खराब काम है, तो जितने संत-महात्मा हैं, सबको दण्ड दिया जाय। यदि यह खराब काम नहीं है तो मैंने कौन खराब काम किया साहब ? अच्छा काम है तो उलाहना किस बात का ? और इस पर भी आपको पसन्द नहीं तो वापिस भेज दो। परन्तु भगवद्गीता में लिखा यह श्लोक आपको निकालना पड़ेगा। यह तो गीता में खटेगा नहीं—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम् ।

इस धाम में जाकर पीछे लौट कर नहीं आते, यह कायदा तो भंग हो जायेगा। पीछे भेज दो भले ही।'

भगवान् बोले—'बात क्या है भाई ?'

"मैंने अपनी तरफ से भेजा तो अच्छा ही काम किया। अपनी तरफ से मैंने खराबी नहीं की। गीता १५।६ का उत्तरार्द्ध है—जिस परम धाम को प्राप्त होकर लौट कर नहीं आते !"

भगवान् बोले—"बात तो ठीक है। कितना ही बड़ा पापी हो, वैकुण्ठ में चला जावे तो वह लौट कर वापिस थोड़े ही आयेगा। उसके पाप तो सब नष्ट हो गये।"

'तो तूने यह क्या किया ?'

'क्या किया मैंने महाराज ? मेरे हाथ में तो जब बात आवे तो मैं तो यही करूँगा। वैकुण्ठ भेजूँगा सबको। मैं किसी को दण्ड क्यों देता महाराज ? यह तो मैं जानता हूँ कि थोड़ी देर के लिये गद्दी मिली है। मुझे गद्दी मिले और मेरा बस चले तो अच्छा ही काम करूँ। लोगों का उद्धार करना कोई खराब काम है क्या ?'

'इसे खराब कौन कहेगा ?'

कहना यह कि जिस तरह हो, सबका भला करो—सबसे हिल-मिल चालिये, नदी-नाव संयोग।

धर्मराज से पूछा, 'धर्मराज, तुमने इसको गद्दी कैसे दे दी ?'

बोले—'महाराज ! देखिये, आपका कागज आया है। साफ-साफ आपका दस्तखत है नीचे।'

भगवान् ने कायस्थ से पूछा—'क्यों रे, यह कागज मैंने कब दिया तुझे ?'

कायस्थ बोला—"गीता में लिखा है—'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो।' सबके हृदय में मैं रहता हूँ, तो हृदय से आज्ञा आयी कि कागज लिख दो। कलम से मैंने लिख दिया, हुक्म तो आपका ही हुआ। इस वास्ते कलम मेरी, दस्तखत आपका ही हुआ, कागज आपका ही है। साफ बात है। यदि आप इसको मेरा मानते हैं, तो गीता में से १५।१५ श्लोक निकाल दीजिये—'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो····।' आपकी वाणी है यह।"

भगवान् कहते हैं—'ठीक।' धर्मराज से पूछा—'अरे धर्मराज, बात क्या है ? यह कैसे आया ?'

'महाराज ! कैसे क्या आया ? आपका पत्र ले आया।'

तब दूतों से पूछा कि 'यह बात कैसे हुई ?'

'साहब, आपने ही कहा था न कि एक जो [illegible] आदमी लाना।'

'तो, वह यही है क्या ? अरे, परिचय तो कराते !'

'हम क्या परिचय कराते, महाराज ! आपने तो कागज लिया और इसे गद्दी पर बैठा दिया। हमने सोचा कि परिचय होगा। फिर हमारी हिम्मत कैसे होती, बोलने की ? इसमें हम कैसे बोलते ?'

हाथी खड़ा था। बोला—"जै राम जी की। आपने कहा था कि तू क्यों बस में हो गया ? मैं क्या बस में हो गया, बस में तो धर्मराज हो गये और भगवान् हो गये। यह काले माथे वाला आदमी बड़ा विचित्र है। महाराज ! यह चाहे तो बड़ी उथल-पुथल कर दे। यह तो अपने आप फंस गया, खुद ही। यह उपकार करने लग गया, हित करने लग गया—ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूत हिते रताः।"

तब भगवान् ने कहा—'अच्छा, जो हुआ। सो हुआ, अब तो, नीचे चला जा।'

'तो १५।६ श्लोक 'जिसको प्राप्त हो कर लौट कर वापिस नहीं आते'—बताइये, मैं आपको प्राप्त हुआ कि नहीं ?'

'अच्छा, चल भाई। तू चल मेरे साथ।'

'महाराज ! मैं ही चलूं ? हाथी पीछे रहेगा बेचारा ? इसकी कृपा से तो मैं आया। इसको भी तो लो साथ में।'

हाथी बोला—'मेरे बहुत भाई बैठे हैं, यहीं नरकों में। सबको ले लो।'

'चलो भाई, सबको ले लो।' तो, सबका उद्धार कर दिया।

शायद यह कहानी तो गढ़ी हुई है, परन्तु इसका सिद्धान्त पक्का है कि अपने हाथ में कोई काम हो, तो सबका भला करो। सबका उद्धार करो। कल्याण करो, जितना कर सको। अपनी दृष्टि से हम किसी को भी दुख क्यों दें ? संताप क्यों दें ? अपने मन को शुद्ध करो, निर्मल करो। बालकों को पढ़ाओ, भाव

उनके उद्धार का ही रहे। 'सर्व भूत हिते रताः—प्राणि-मात्र के हित में रति रहे; क्योंकि यह गद्दी थोड़ी ही देर रहने वाली है। जैसे कायस्थ ने कहा था कि गद्दी तो थोड़ी देर रहने वाली है। ऐसे ही हमने आपको कहा कि हम तो हरेक दिन मौत की तरफ जा रहे हैं। अधिकार हो, पद हो, थोड़े ही दिन का है। सदा रहने वाला नहीं है। हम रहना चाहेंगे, पदार्थों और व्यक्तियों को रखना चाहेंगे और वे चले जायेंगे तो मनको बड़ा परिताप होगा। मन के भीतर हम ऐसी भावना न रख करके सेवा का भाव रखें। ये लोग रहें तो अच्छी बात, जायें तो परवाह नहीं।····यदि शरीर के साथ भी ऐसा भाव रखें, तो महान् सुख की प्राप्ति होगी और शान्ति रहेगी।

किसी का एक दो रुपया भी कहीं खो जाय तो खो जाने से बड़ी चिन्ता होती है। यदि १०० रु० भी आपने ब्राह्मण-भोजन में लगा दिया, अच्छे काम में लगा दिया तो १०० रु० की चिन्ता नहीं होती। प्रसन्नता होती है कि अच्छे काम में लगा दिया। पैसा अच्छे काम में लगा दें तो प्रसन्नता होती है और खो जाय तो संताप होता है। ऐसे ही यह संसार है, इसका वियोग जरूर होगा। अगर आप स्वयं त्याग कर दें, सबके साथ अच्छे से अच्छा बर्ताव करें, उत्तम से उत्तम कार्य में लगा दें, तो बड़ी शान्ति होगी, आनन्द मिलेगा। नहीं तो कोई रहने वाले तो हैं नहीं। कोई रहने वाला हो तो सोचे कि भाई रहने वाला है, रख लेंगे। सो तो यह रहने वाला है नहीं। इसका ज्ञान सबको है। इस बात को हम जानते हैं। पर, जानते हुए भी मानते नहीं, यही गलती होती है।

सबको जाना पड़ेगा। शरीर इतना खतरनाक है कि गर्भवास से लेकर १०० वर्ष की उम्र तक, हर समय खुला है मौत के लिये। मौत के रिवाज में कोई फर्क नहीं पड़ता।

चार-पाँच वर्ष का एक बालक माँ के पास खेलता था। उसने सुना ठण्डी बर्फ। माँ से पैसे लिये, दौड़कर ले आया बर्फ। हाथ ठण्डा हो गया। वह माँ से बोला—'मां, बर्फ ठंडी बहुत है, थोड़ा गरम कर दे।' मां बोली—'गरम कैसे कर दूँ ?' छोरा बोला—'तू खाना बनाती है, तू गरम करना जानती है। तू थोड़ा गरम कर दे। ठण्डी ज्यादा है।'

मां बोली,—'बेटा ! यह गरम नहीं होती।' छोरा बोला—'मां, तू रसोई बनाती है। गरम करना तुझे आता ही है। गरम कर दे।'

मां नटती है और छोरा रोने लगता है। मां जानती है कि 'बरफ गरम नहीं होगी। गरम करे, तो यह बर्फ नहीं रहेगी; और बर्फ रहते गरम होगी नहीं।

बालक जिद करता है। कब तक ? जब तक उसे ज्ञान नहीं होता कि यह गरम होने पर बर्फ नहीं रहती। तब तक वह हठ करेगा। बाद में वह समझ लेगा कि बर्फ तो ठण्डी ही रहने वाली है। गरम करने पर पिघल जायेगी, बर्फ रहेगी नहीं।

ऐसा जानने वाला हठ करेगा क्या ?

अच्छा, ऐसा कौन है, जो नहीं मानता कि शरीर मरने वाला है ? यह तो गलने वाला है। गलनी माटी है। तो, यह तो जाने वाला है, फिर भी हम मन में धारणा करते हैं कि यह बना रहे, बना रहे। बालक बड़ा होगा, तब समझ जायेगा। आप कब बड़े होंगे, भाई ? जिस दिन से आप यह समझ लें, कि शरीर तो जाने वाला है, उस दिन से जाने वालों से अच्छी तरह से काम लो। काम अच्छी तरह से करो। बर्ताव बढ़िया से बढ़िया करो। उनसे लाभ लेना हो, तो लाभ लो। सेवा करनी हो, तो सेवा करो।""जाने वाले को रख कैसे सकते हैं ? यह तो जाने वाला ही है। आज दिन

तक यह रिवाज नहीं रहा कि इसको रख लें, तो यह नया रिवाज कैसे होगा ? इस वास्ते आज दिन तक जो भूल हुई, सो हुई। आगे सबके साथ बड़े आदर का, उपकार का, सेवा का, प्रेम का बर्ताव करो। शास्त्र की आज्ञा, धर्म की मर्यादा के अनुसार सेवा करो। सबको सुख पहुँचाओ। तो हित में आपकी रति हो जायगी—ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। प्राणि-मात्र के हित में जिनकी रति है, उनके लिये भगवान् कहते हैं, वे मुझे प्राप्त होते हैं।

संसार में जो चीजें हैं, वे सब वियुक्त होने वाली हैं। वे जब वियुक्त होने ही वाली हैं, तो उनसे सेवा करके लाभ तो ले लो। कैसी बढ़िया बात है ! शरीर जाने वाला है। व्यक्ति जाने वाले हैं। इस कारण साथ में रह कर अच्छे से अच्छा बर्ताव करो। पता नहीं किस समय यहां से जाना पड़े। गाड़ी समय पर जाती है। हम समय से पहले स्टेशन पर पहुँच जाते हैं। तैयारी पहले से कर लेते हैं। पर यह गाड़ी कब छूटेगी, इसका पता नहीं। सुबह छूटेगी कि शाम कि दोपहर, कुछ पता नहीं। किस दिन छूटेगी, कुछ पता नहीं।

कुछ वर्ष पहले की बात है। जोधपुर में एक तांगे वाला था। स्टेशन से मुसाफिरों को लेकर जा रहा था। बीच में चाबुक उठाया घोड़े को मारने के लिये कि झट से गिर गया, मर गया। चाबुक मार नहीं सका ! यह दशा है हमारी।

एक जगह आदमी आये थे नापासर में। वे एक जगह ठहरे थे। स्नान करने की तैयारी हुई। तो खाट पड़ी थी, उसके ऊपर कपड़ा टंगा था। खाट पर हाथ रख कर कपड़े लेने को गया। वहीं गिर गया, खत्म हो गया। खाट पर गिर पड़ा। तो हम क्या फौलाद के बने हुए हैं ? क्या पता मौत किस समय आ जाय ! इस वास्ते हर समय तैयार रहो।

स्टेशन पर पहले चले जाते हैं। इस प्रकार पहले से ही तैयार रहो। उत्तम बर्ताव करोगे, तो मरने में दुःख नहीं होगा। चीजें यहीं रह जायेंगी और जाना पड़ेगा। मन यदि इनमें रहा, तो सोंचते रहेंगे कि यह वहां रह गयी, अमुक वहाँ रह गयी...। हाकिम आये हवलदार छोड़ नगरी—संतों के पद में आता है।

छोड़ नगरी रे हंसा छोड़ नगरी।
अपनो आवे हवलदार छोड़ नगरी॥
दोय घड़ी ठहरे यमराजा, दोय घड़ी ठहरे यमराजा,
माया पड़ी है मेरी बिखरी, माया पड़ी है मेरी बिखरी॥
हरे हरे माया पड़ी है मेरी बिखरी॥
आज आये, हवलदार छोड़ नगरी।
ऐसे आये, हवलदार छोड़ नगरी॥

....यहां माया पड़ी है, इसे समेट लो, चाहे छोड़ दो। क्या फरक पड़ेगा? एक जगह पड़ी रहे या अनेक जगह पड़ी रहे, जाने वाले का तो सम्बन्ध है नहीं।...मान लो...आदमी रोजाना हजार रुपये लाता है। हजार रुपये लाया और बारह महीने तक लाया। ला ला कर उन्हें रख दिया। बाद में मर गया। क्या फरक पड़ा, बताओ? आजकल तो कागज मिलते हैं, पहले तो चांदी के रुपये थे। रुपये लाया तो वजन में १२½ सेर ले आया रुपये। एक जगह रख दिये, अब इस भार को ला ला कर एक स्थान पर रख दिया और मर गया। तो फरक क्या पड़ा? यही न कि उधर से लाकर इधर रख दिया और मर गया। न उधर सम्बन्ध था और न इधर सम्बन्ध रहा। बोझ ढोया। साढ़े बारह सेर लाया। गधा एक दिन में कितना ढोता है। मनों-मनों ईंटें-पत्थर ढोता है, परन्तु शाम को निश्चिन्त रहता है और आपको रात-दिन रखे हुए रुपयों की चिन्ता सताती है। सुबह होने तक, कौन आया है?

(चोरों की, डाकुओं की चिन्ता रहती है)। बाद में रखा का रखा रह जायेगा।

यह धन तो असली धन नहीं है। असली धन तो भगवान् का नाम है। सब दिन माला माल हो जाय।

कबिरा सब जग निर्धना धनवन्ता नहिं कोइ।
धनवन्ता सोई जानिये जाके राम नाम धन होइ॥

इस धन के कमाने में सब स्वतन्त्र हैं। पैसा कमाने में कोई स्वतन्त्र नहीं है, सब परतन्त्र हैं। यह बात पक्की है। कोई भाई बहिन एक दो माला फेरने का नियम लेते हैं। स्नान करके भोजन करते हैं, ऐसा नियम है। इतना ही नियम हमारे से होता है। परन्तु पैसा कमाने का कितना नियम है भाई? रोजाना ज्यादा से ज्यादा ५० रु० ? पूछा—'यह भी नियम है क्या ?'—कहते हैं कि हाथ की बात नहीं। यही तो हम कहते हैं कि जो हाथ की बात नहीं, उसके तो पीछे पड़े हैं, और सोचते हैं कि लखपति बन जायं और मालामाल हो जायं। वह नाम लेते नहीं जो साथ में चल सकता है। जो लेते हैं वह साथ में चलता नहीं। नतीजा क्या होगा, जरा सोचो। 'यह तन तो जासी' यह तो जायेगा भाई। जाने वाले से, कहा परदेशी को प्रीति—जाओ तो बार न लावे—कहा परदेशी की प्रीति। क्या प्रीति करें? क्या पता कब चल देवे?

हम तो मौत के मुँह पर बैठे हैं। कब यहाँ से चल देंगे, कुछ पता नहीं। तो, भगवान् के नाम का तो जप करो और दूसरों की सेवा करो। हित करो, हर तरह से दूसरों का उपकार करो। ये दो ही बातें गांठ बांध लो। भगवान् को तो याद रखो और यहाँ की चीजों के द्वारा संसार का हित करना है। एक तो अभावग्रस्तों की सेवा करो और दूसरे हमारे बूढ़े दादा-दादी जो पूजनीय हैं; उनकी आज्ञा मानो। सेवा करो तो जन्म सफल हो जायेगा, नहीं तो यहाँ से जाना तो पड़ेगा ही।

मुक्ति प्राप्त करने में सब स्वतन्त्र हैं। अपना न मान कर सेवा कर दो, सेवा हो जायेगी। अपना समझ कर करेंगे और अपना सुख लेगें तो बन्धन हो जायगा। छोड़ना किन को है ? जो छूट रहे हैं। आपको हर समय छोड़ रहा है, हर समय जा रहा है। यह जायेगा ही, छूटेगा ही। इनका मोह छोड़ना है। जो छूटना है ही, उसकी ममता छोड़ने में क्या जोर लगता है ? जिनका छूटना है, जिन्हें छोड़ना है, उनकी ममता का त्याग कर दो। शरीर में अहंता का त्याग कर दो, निहाल हो जाओगे। 'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति। जहाँ निर्मम निरहंकार हुए, वहाँ ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हुई। (२।७१) 'स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति' (२।७२)। तो सबसे बड़ा सुख मिल जाय। दुख सदा के लिये शान्त हो जाय।

यह स्थिति आपको, हमको, सबको मिल सकती है और सब इसके अधिकारी हैं। शर्त यही है कि हम सच्चे हृदय से चाहें। इसमें स्वतन्त्रता भी है। हम (अहंता) चाहें तो रख सकते हैं। हम ममता का त्याग चाहें तो कर सकते हैं और यदि चाहें तो रख भी सकते हैं। सब छूटेगा ही, तो पहले से ममता का त्याग कर दें। ठाकुर जी के अर्पण कर दें। सबका सब भगवान् के अर्पण कर दें कि आपकी चीज है। सच्ची बात है, सब भगवान् का है। हमने तो बीच में आकर छापा मारा है। अपना माना है। इस वास्ते ठाकुरजी को दे दें—त्वदीयम् वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये। हे नाथ ! आपकी वस्तु आपके समर्पण है।

ऐसा करके भगवान् को याद करें। मस्त हो जायें कि आनंद हो गया। जिम्मेदारी खत्म हुई। ठाकुरजी की चीज, ठाकुरजी को सौंप दी। शरीर, बुद्धि, मन, इन्द्रियों को हम अपना नहीं मानें। इनमें से अपनापन हटा लें। चुपचाप भीतर से ही। सब ठाकुरजी बिल्कुल स्वीकार कर लेंगे। कहने की भी जरूरत नहीं है। वे हर जगह विराजमान हैं।....

१६. सदुपयोग की महत्ता

परमात्मा ही एक ऐसा तत्त्व है, जो चाहे उसी को मिल जाय। धन-सम्पत्ति, वैभव, मान, आदर, निरोगता आदि चाहने से मिल ही जाय, यह नियम नहीं। परन्तु परमात्मा केवल चाहना से मिलते हैं। धन आदि चाहने पर, उद्योग करने पर, प्रारब्ध का संयोग होने पर थोड़े-बहुत मिल सकते हैं, परन्तु सबको एक समान नहीं मिल सकते, परन्तु परमात्मा सबको पूरे के पूरे एक समान मिल सकते हैं। क्योंकि, परमात्मा सबके अपने हैं। उन पर सबका समान अधिकार है। ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः (गीता १५।७)। भगवान् ने इस श्लोक में सब जीवों को अपना अंश बतलाया है। जीव परमात्मा का साक्षात् अंश है। परमात्मा के साथ तात्त्विक एकता है, इसलिए जो चाहे उसको मिल जाय। सबका परमात्मा पर पूरा का पूरा हक लगता है। बालक अपनी माँ की गोद में जा सकता है। माँ के बेटों का माँ पर पूरा हक है, क्योंकि सब मानते हैं कि माँ मेरी माँ है। ऐसे ही वह परमात्मा भी सबका माता-पिता है। कहा जाता है त्वमेव माता च पिता त्वमेव। वे सबके माता पिता हैं। सदा से हैं और सदा ही रहेंगे। इसलिए उनकी प्राप्ति में कोई भी मनुष्य अयोग्य नहीं है, अनधिकारी, नहीं, निर्बल नहीं। इसलिए किसी को परमात्म-तत्व से हताश होने की किञ्चित्मात्र भी गुंजाइश नहीं है।

कैसी विलक्षण बात है! मैंने जो पुस्तकें पढ़ी हैं, जो विचार किया है, सुना है, उससे यह बात बड़ी दृढ़ता से बैठी है कि महिमा सदुपयोग की है। महिमा परिस्थिति की नहीं है। आप चाहे जिस

परिस्थिति में हैं, उसी परिस्थिति में उस परिस्थिति का सदुपयोग करके परमात्म-तत्व की अनुभूति कर सकते हैं। कैसी ही बुद्धि हो, कैसी ही अवस्था हो, कैसा ही संयोग हो, उसी का ठीक तरह उपयोग करना है। किसी भी वस्तु, अवस्था, योग्यता, परिस्थिति, घटना, सामर्थ्य, क्रिया की महिमा नहीं है। महिमा है उसके सदुपयोग की। यदि उपयोग ठीक किया जाय, तो परमात्मतत्व की प्राप्ति हो जाय। हम कृतकृत्य हो जाँय। मनुष्य जन्म मिला हो इसके लिए है। यदि भगवत्प्राप्ति विशेष परिस्थिति के अधीन होती तो एकाध मनुष्य ही भगवत्प्राप्ति कर सकता। परिस्थिति प्राप्त करना अपने हाथ की बात है नहीं। भगवत्प्राप्ति किसी परिस्थिति के आश्रित नहीं है। हम जहाँ जिस परिस्थिति में हों, वहाँ ही, उस परिस्थिति में ही उसका सदुपयोग करके भगवत्प्राप्ति कर सकते हैं। यह भगवान् की कितनी दयालुता है! उन्होंने सबके लिए अपने को सुलभ बताया है।

कबहुँक करि करुना नर देही, देत ईश बिनु हेतु सनेही। बिना हेतु कृपा करने वाले प्रभु ने मनुष्य शरीर दिया है। यह दिया है केवल भगवत्प्राप्ति के लिए। तो क्या भगवान् की कृपा निष्फल होगी? भगवान् की कृपा कभी निष्फल नहीं होती। हाँ, भगवान् ने मनुष्य को स्वतन्त्रता दी है। उस स्वतन्त्रता का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग वह कर सकता है। वह चाहे तो परमात्मतत्व की प्राप्ति करके अपना कल्याण कर ले अथवा ८४ लाख योनियों में भटकता रहे। वह चाहे मनुष्य जन्म में चला जाय, चाहे स्वर्गादि में चला जाय—यह इस मनुष्य की इच्छा पर है। भगवान ने इसको स्वतन्त्रता दी है, केवल उसके कल्याण के लिए। इसका दुरुपयोग करके वह नरकों में चला जाय तो भगवान् को बड़ा तरस आता है। इस बात को **'अप्राप्य माम्'** पदों से भगवान् ने (१६।२० में) कहा है। (१६।२० में) वहाँ नरकों की प्राप्ति की बात चल रही है

वहाँ भगवत्प्राप्ति को न करके कहने में और क्या भाव हो सकता है? सदुपयोग का कितना महत्त्व है! यह बहुत ही दुर्लभ बात है। यदि समझ में आ जाय तो प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग करके मनुष्य अपना कल्याण कर ले।

परमात्म-तत्व की प्राप्ति के लिए हमारे मन में लगन लग जाय कि वह हमें कैसे प्राप्त हो? क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? इस प्रकार की लगन से परमात्मा की प्राप्ति बहुत शीघ्र होती है।

रामायण में आता है कि **एक बान करुनानिधान की, सो प्रिय जाके गति न आन की।** भगवान् का एक स्वभाव है यानी उन्हें बान पड़ी हुई है कि जिसका दूसरा कोई सहारा नहीं होता, उसका सहारा भगवान् है। वह भगवान् को बहुत प्यारा लगता है। इसलिए भगवान् ने अर्जुन को पूरी गीताजी सुनाकर सार बात कही 'मामेकं शरणं व्रज'—मेरी एक की ही शरण हो जा। तुझे और कुछ करने की आवश्यकता नहीं। धर्म के पचड़े में मत पड़। 'माम् एकं' का अर्थ अनन्य शरण से ही है। यह अर्थ नहीं है कि भगवान् पाँच सात हैं, उनमें से मेरी एक की शरण आ जा। परन्तु भगवान् ने कहा कि तू मुझ भगवान् की शरण आ जा। अर्जुन ने 'धर्म सम्मूढ़चेता' (गी० २।७) शरण होकर पूछा था कि 'मैं धर्म का निर्णय नहीं कर सकता।' मानो, यहाँ भगवान् कहते हैं कि तेरे को धर्म का निर्णय करने की जरूरत नहीं है। सम्पूर्ण धर्मों को त्यागकर एक मुझ प्रभु को शरण हो जा। 'हे नाथ मैं आपका हूँ और आप मेरे हो। संसार की कोई वस्तु; कोई प्राणी मेरा नहीं है, मैं किसी का नहीं हूँ। मैं आपका हूँ। आप मेरे हों'—बस, ऐसे भगवान् के शरण हो जाय।

शरण होने में एक बात आयी कि मुझ से संसार का सम्बन्ध नहीं है। इसमें समझने की एक बात है। संसार के सम्बन्धी माता

पिता भाई पत्नी पुत्र आदि तुम से न्याययुक्त सामर्थ्य अनुरूप आशा रखते हैं। उनकी वह आशा पूरी कर दो। उनकी सेवा करने के लिए सम्बन्ध रखो। उनसे लेने के लिए सम्बन्ध बिल्कुल मत रखो; क्योंकि लेने को है ही क्या ? संसार की कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है और आप स्थायी हैं। वे वस्तुएँ और प्राणी आपके साथ रहेंगे नहीं। अपने सम्बन्धी कुटुम्बी कहलाते हैं। चाहे कुटुम्ब के नाते, चाहे देश के नाते, उनकी सेवा कर दो। क्योंकि, जो वस्तुएं हैं, वे उनकी हैं। उनके हक की हैं, उनको दे दो। लेने को इच्छा रखोगे तो ऋण हो जायेगा। ऋण रहने से मुक्ति नहीं होगी, कल्याण नहीं होगा। सेवा करने से कल्याण होगा। संसार के व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध केवल उनकी सेवा के लिए रखो। वस्तुओं के साथ सम्बन्ध व्यक्तियों की सेवा में सदुपयोग के लिए रखो। अपने लिए कुछ लेना नहीं है। सेवा के लिए सम्बन्ध रखोगे तो सब प्रसन्न हो जायेंगे। कुटुम्बी सम्बन्धी भी नाराज तभी होते हैं, जब उनसे हम कुछ लेना चाहते हैं। जब हम उनपर अपना कोई अधिकार न रखकर कुछ लेना नहीं चाहते, केवल सेवा करना चाहते हैं, तो कोई नाराज ही नहीं होगा, बल्कि आप से सबकी एकता होगी, स्नेह बढ़ेगा।

संसार में रहने की यह एक बहुत बढ़िया कला है। मुक्त होने की भी यही कला है। कैसी बढ़िया बात है! दुहू हाथ मुद मोदक मोरे! दोनों हाथों में लड्डू का अभिप्राय यह है कि ऐसा हो तो भी ठीक और ऐसा न हो तो भी ठीक! इसे 'दोनों हाथों में लड्डू' कहा करते हैं। यहां दोनों हाथों में लड्डू एक साथ मिलते हैं। संसार भी राजी होगा, परमात्मा भी प्रसन्न होगा। आपका कल्याण भी हो जायगा साथ में। आपका उद्देश्य केवल परमात्मा की प्राप्ति करना है। उसके लिए परमात्मा की शरण हो जाओ। संसार का आश्रय न लो और संसार की अपनी शक्ति के अनुसार

सेवा करो। सेवा करने से संसार राजी हो जायेगा और प्रभु के चरणों की शरण हो जाने से प्रभु प्रसन्न हो जायगा और हमारा कल्याण हो जायगा। कितनी सरल बात, कितनी सीधी बात है!

लेने की इच्छा से मनुष्य का सम्बन्ध जुड़ता है और देने की इच्छा से सम्बन्ध टूटता है। एक दम नयी-सी बात लगती है। मुझे भी पहले यह नयी-सी लगी थी, जब यह बात मिली थी। जब इस पर विचार किया तो लगा कि यह एकदम ठीक बात है। केवल देने का सम्बन्ध हो तो सम्बन्ध विच्छेद होता है। आप करके देख लें। सेवा करने के लिए सम्बन्ध रखो, लेने के लिए नहीं। यही तो मार्मिक बात है। उदाहरण के लिए सेवा समिति वाले मेला महोत्सव में जाते हैं और सबका प्रबन्ध करते हैं, सेवा करते हैं। कोई बीमार हो जाय तो कैम्प में ले जाते हैं, औषधि-उपचार, सेवा-शुश्रूषा करते हैं। मर जाये तो दाह संस्कार कर देते हैं। रोता कोई नहीं। सेवा करने मात्र का सम्बन्ध है केवल, लेने का नहीं है। पूरा सम्बन्ध सेवा का है। वहाँ रोना नहीं होता।

अपनापन करके कुछ न कुछ लेने की आशा होती है। जहाँ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, वहाँ रोना होता है। **कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३।२१)। भीतर से गुणों का संग है, वह जन्ममरण देनेवाला है। भीतर से सेवा करने का सम्बन्ध है, वह असंगता है। सेवा करने से हमारा संग टूटेगा। **धर्म ते विरति योग ते ज्ञाना; ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना।**

धर्म-पालन का अर्थ यहाँ कर्मयोग का है, यानी कर्तव्य करना। अपने लिए कुछ चाहना नहीं। सेवा करने से वैराग्य पैदा होगा। जैसे स्वायम्भुव मनु ने कहा **होइ न विषय विराग, भवन बसत भा चौथपन। हृदय बहुत दुख लाग, जन्म गयउ हरि भगति बिनु।** कहा कि घर में रहते बूढ़े हो गये, पर वैराग्य नहीं हुआ। केवल

सोचकर दम्पतिको वैराग्य हो गया। वे राज्य छोड़कर वन में चले गये। प्रजा का धर्मयुक्त पालन किया था। प्रजा के लिए प्रजा का पालन किया था। अपने लिए राज्य करते, तो इतना बड़ा राज्य छोड़कर वन नहीं जा सकते थे। राजा कहते उसी को हैं जो प्रजा को खुश कर दे। उन्होंने अपने राज्य-काल में सबका हित किया। मनुस्मृति आदि बना दी, जिसके अनुसार चले तो मनुष्य का कल्याण हो जाय। इस तरह से संसार का हित किया। अपना स्वार्थ नहीं रखते, इससे वैराग्य हुआ। धर्म सहित सबका पालन-पोषण करने से वैराग्य पैदा होता है। जहाँ लेने की किञ्चिन्मात्र भी इच्छा होती है, वहाँ राग पैदा होता है। यह अज्ञान का चिह्न है। यही इसकी खास पहचान है। रागी है तो अज्ञानी है। उसका सम्बन्ध जुड़ता है, जो कुछ लेना चाहता है। लेना वही चाहता है, जो शरीर के साथ 'मैं' 'मेरे'-पन का संबंध रखता है और पदार्थों के साथ 'मेरे'-पन का सम्बन्ध रखता है। जिसे केवल सेवा ही करनी हो, सेवक कहलाने की इच्छा भी नहीं, केवल सेवा हो जाय, केवल दूसरों को सुख पहुँचे, आराम पहुँचे, उनका भला हो, उनका कल्याण हो, इस प्रकार तन से, मन से, वचन से, धन से, विद्या से, बुद्धि से, योग्यता से, पद से, अधिकार से, सबको सुख ही पहुँचाना ही, मन में हित ही हित करने का भाव हो, वह कभी भी नहीं बँधेगा। मुक्त हो जायेगा। पानी में रहकर पानी को इधर लोगे तो डूब जाओगे और हाथों से और लातों से मारोगे तो तर जाओगे।

संसार समुद्र में जो लेना चाहता है, वह डूब जाता है। देता ही देना चाहता है, वह कभी नहीं डूबता। सेवा करने वाले ही भगवान् हैं और सेवा करने वाले ही संत महात्मा पुरुष। हेतुरहित जग जुग उपकारी, तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।

भगवान् और भगवान् के सेवक बिना कारण सेवा करने वाले हैं। वे बंधते नहीं हैं। उनके दर्शनों से मुक्ति हो जाती है। उनकी बातों को सुनने से कल्याण हो जाता है। क्योंकि, उनमें स्वार्थ है ही नहीं। किसी से कुछ लेना है ही नहीं, प्रत्युपकार की इच्छा है ही नहीं।'

यत्तु प्रत्युपकारार्थम् फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ (गीता १७/२१)

प्रत्युपकार की इच्छा लेकर जो दान दिया जाता है, उसको भगवान् ने 'राजस' कहा है। रजोगुण सम्बन्ध जोड़ने वाला है, क्योंकि 'रजः रागात्मकं विद्धि'—रजोगुण रागस्वरूप है। जहाँ लेने की इच्छा है, वहाँ सम्बन्ध बना रहता है। वहाँ सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता।

शंका होती है कि मुनि भरत ने हरिण के बच्चे को पाला, पर उनका हरिण के बच्चे में मोह हो गया। यानी उनका सम्बन्ध जुड़ गया। ठीक है, उन्होंने हरिण के बच्चे को पाला, दया करके ही पाला। परन्तु प्रारम्भ में उनका उद्देश्य सेवा का होते हुए भी उन्होंने उसमें ममता कर ली। उसके वियोग में ऐसे व्याकुल हो गये, जैसे किसी का लड़का मर जाय!

वे कहने लगे कि यह हिरण ऐसे मेरे साथ खेलता था। ऐसे बदन खुजलाता था, यूँ फुदकता था, मेरे पास आया करता था। इस मोह के कारण उन्हें हरिण बनना पड़ा। दया का दोष कुछ नहीं है। सेवा करे, केवल सेवा के लिए सम्बन्ध रखे। भरत को दया से मोह नहीं हुआ, मोह हुआ भूल से। मोह तो पहले ही था, दया ने मोह का रूप धारण कर लिया। मोह के कारण बन्धन होता है। दया करके सेवा करने से बन्धन नहीं होता। यह पक्की बात है।

अस्सी नब्बे वर्ष का कोई आदमी मर जाय तो उसके लिए दुःख नहीं होता है। पचीस वर्ष का जवान आदमी मर जाय तो दुःख होता है। क्यों ? बड़े बूढ़े तो विशेष अनुभवी तथा बुद्धिमान होते हैं। उनका बहुत अध्ययन है। इसलिए उनसे लाभ ज्यादा लिया जा सकता है, पर उनके मरने से दुःख नहीं होता; क्योंकि उनसे कुछ मिलने की आशा नहीं रही। ऐसा आदमी अभी मर जाय तो कोई हर्ज नहीं।

मैंने अपने कानों से सुना है कि लोग कहते हैं कि बूढ़े का मरना तो ब्याह की तरह है। कारण क्या है ? यही कि उससे अपना अब कोई आर्थिक स्वार्थ सिद्ध होने की आशा नहीं। जवान आदमी २५ वर्ष का, ५ वर्ष बीमार रहकर मर जाय। वैद्यों ने, डाक्टरों ने सबने जवाब दे दिया। कह दिया, अब यह जीने वाला नहीं है। उसके मरने से भी उतना दुःख नहीं होगा, जितना दुःख कमाने वाला २५ वर्ष का जवान आदमी मरने पर होता है। मतलब रहने से दुःख होता है। आशा ही बाँधने वाली चीज है। आशा नहीं रखी जाय, तो मनुष्य बँधता नहीं। उसको कोई बांध नहीं सकता।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ (गीता १८/४६)

'जिस परमात्मा से यह संसार उत्पन्न हुआ है तथा जिससे संसार व्याप्त है, उस परमात्मा की अपने कर्मों के द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है।'

इस श्लोक का यही भाव है कि सम्पूर्ण प्राणियों की सेवा करे। सेवा करने से सिद्धि हो जायेगी। वास्तविक पूजा तभी होती है, जब मनुष्य वस्तु को अपनी नहीं मानता और पूजा से अपने स्वार्थ की सिद्धि की आशा नहीं रहती। जहां कुछ न कुछ स्वार्थ है, आराम है, मान-बड़ाई आदि लेने की बात है, वहीं पर

बन्धन है। मुझे वर्षों बीत गये, परन्तु बीमारी की जड़ कहाँ है—इसका पता नहीं लगा। पीछे इस बात का पता लगा। ऐसी दुर्लभ बात है यह।

बन्धन वहीं पर है, जहाँ कुछ न कुछ लेना है, कुछ न कुछ स्वार्थ है, कुछ न कुछ सुख है, कुछ न कुछ भोग है। देखकर राजी होते हैं, तो भोग हो रहा है। भोग है तो वह बांधेगा। अनुकूल बनाना चाहो, तो दुःख आयेगा। ये सब भोग हैं। इनसे हरदम सावधान रहो। किसी से सुख नहीं लेना है, मान नहीं लेना है, आराम नहीं लेना है, बड़ाई नहीं लेनी है। हमें किसी से कुछ लेना है ही नहीं, जहाँ लेना हुआ कि फंसे। यदि कोई केवल सेवा ही सेवा करता है, तो पुराना ऋण उतर जावेगा, नया सम्बन्ध जुड़ेगा नहीं। पुराना ऋण उतर जायेगा। आप पूर्ण हो जाओगे। अतः सुख का, स्वार्थ का सम्बन्ध रखना ही नहीं है। केवल सेवा ही करनी है। प्राप्त पदार्थों के द्वारा व्यक्तियों की सेवा करनी ही सदुपयोग है। इस सदुपयोग की ही महत्ता है, परिस्थिति की नहीं।

---

१७. असत् अन्तःकरणादि के साथ 'मेरे' पन का सम्बन्ध न रखो

साधन करने वालों के मन में एक बात बहुत गहरी बैठी हुई है, जो आध्यात्मिक लाभ में बड़ी बाधा बनी हुई है। लोगों ने यह धारणा बना ली है कि बातें सुनते तो हैं, पर वे काम में नहीं आतीं। यह धारणा महान् बाधक है। खूब खयाल करें इसपर आप। आप जिसको काम में आना मानते हों, वहाँ असत् से सम्बन्ध बनाये रखते हों। वास्तव में आप असत् को अपना मानकर, अपने में मानकर असत् से सम्बन्ध जोड़े रहते हो।

मान लो आपके मन में कोई बुरी फुरना हुई। मन में जो असत् है, फुरना भी असत् है। परन्तु आप उस फुरना से तथा मन से सम्बन्ध बनाये रखकर अपने सत् स्वरूप में विकार देखते रहते हों। आप मानते रहते हो कि मैं विकारी हूं। यह मूल भूल है। असत् में विकार स्वाभाविक है, अतः विकार होते ही रहते हैं। आप इन विकारों को अपने सत्-स्वरूप में मानते रहते हैं! फिर कहते हैं कि आचरण में बातें नहीं आतीं। आप साक्षात् परमात्मा के अंश हैं। आप में कोई विकार नहीं है, पर आपने असत् के साथ 'मैं' और 'मेरा' का सम्बन्ध मान लिया। जो नाशवान शरीर है, उसको 'मैं' मान लिया और नाशवान् पदार्थों को 'मेरा' मान लिया। इस प्रकार असत् को 'मैं' तथा 'मेरा' मानने से उसके साथ आपका संग हो गया।

असत् में विकार होवेगा ही। यह तो निर्विकार रह ही नहीं सकता। इसमें विकार होते हैं। उन विकारों को आप अपने में

मानते हैं और कहते हैं कि बातें काम में नहीं आतीं । जरा सोचिये कि विकार तो आते हैं, और जाते हैं, परन्तु आप तो वैसे के वैसे ही रहते हैं। तो आप अपने स्वरूप में स्थित रहें। 'मैं' और 'मेरा' जो माना हुआ है, उसमें स्थित न रहें। इस प्रकार स्वरूप में स्थित रहने से आप समदुःख-सुख हो जायेंगे—यानी सुख-दुःख में निर्विकार रहेंगे। तब बात काम में आ जायगी।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् (१३।२१)
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते" (१३।२०)

सुख-दुःखों के भोक्तापन में हेतु कौन होता है?—पुरुषः प्रकृतिस्थो हि। 'जो पुरुष प्रकृति में स्थित होता है—वह ही प्रकृतिजन्य गुणों का भोक्ता है'—ऐसा कहा जाता है। इसलिए उसे ही सुख-दुःखों का भोक्ता बनना पड़ता है। प्रकृति में स्थित होना क्या है? 'मैं' और 'मेरा'—यह ही माया है, प्रकृति है। 'मैं और मोर तोर तें माया।' इस माया को पकड़ कर लोग कहते हैं कि बात काम में नहीं आती। माया के साथ सम्बन्ध रखे हुए विकारों से कैसे बच सकते हो? सम्बन्ध को तो आप छोड़ते नहीं, विकारों से बचना चाहते हो! अतः मन की वृत्तियों को अपनी मत मानो।

'मैं हूँ' इसका कभी अभाव होता नहीं; क्योंकि, आप सत् स्वरूप हैं और सत् का कभी अभाव होता नहीं। सत् का अभाव न होने से उसमें कभी कमी भी नहीं आती। इसलिए मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरा कुछ नहीं है, मेरे तो केवल प्रभु हैं, जो दीखता है—यह मेरा नहीं है। हमारे स्वरूप में कभी कमी नहीं आती—इसलिए हमारे चाहना होती नहीं। जब अपने को कुछ चाहिए ही नहीं, तो अपने लिए कुछ करना भी नहीं है। जो करना है, सब केवल दूसरे लोगों के हित के लिए। ऐसा निश्चय होने पर कर्मयोग स्वाभाविक होगा।

असत् में स्वाभाविक क्रियाएँ हो रहीं हैं। उन क्रियाओं के साथ हम अपने आप मिल जाते हैं, तो भूल होती है। क्रियाओं को अपने में मिला लेते हैं तो गलती होती है। यह विवेक साफ-साफ रहे कि हमारा असत् से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। हमें कुछ भी नहीं चाहिए और हमें अपने लिए कुछ नहीं करना है। अर्थात् हमारा कुछ नहीं है। कभी कहीं किञ्चित सम्बन्ध असत् के साथ दीख जाय तो वहाँ थोड़ा ठहरकर के विचार करें कि मुझ में विकार कैसे हो सकते हैं? पुराने अभ्यास से असत् के साथ सम्बन्ध जुड़ने की भ्रान्ति हो सकती है; परन्तु असत् के साथ आपका सम्बन्ध है ही नहीं, ऐसा संभव ही नहीं। ऐसा हो सकता ही नहीं। जरा विचारें कि यह तो जानने में आने वाला है, मैं जानने वाला हूँ। तो 'जानने में आने वाले' से 'जानने वाला' सर्वथा भिन्न है। जानने में आने वाली चीज, मुझ जानने वाले में कैसे आ सकती है? जैसे, मैं खम्भे को जानता हूं, तो खम्भा मुझ में कभी हो सकता है क्या? इसी तरह मन में, बुद्धि में, इन्द्रियों में जो विकार प्रतीत हो रहे हैं, मैं उनको जानता हूँ। वे मेरे में कैसे हैं?

जिसे 'यह' कहते हैं, वह 'मैं' नहीं हो सकता—यह नियम है। तो फिर 'यह' 'मैं' कैसे हो सकता है? 'यह' तो 'यह' ही रहेगा। **'इदं शरीरं कौन्तेय'** (गीता १३।१)—भगवान् ने शरीर को 'इदम्' कहा। तात्पर्य है शरीर 'यह' है, यानी तेरे से न्यारा है। तू इसका जानने वाला है और यह तेरे जानने में आने वाला है। तू कभी भी शरीर नहीं है। इसलिए शरीर को 'मैं' मानना भूल है।

जीव तो परमात्मा का अंश है (१५।७)। शरीर प्रकृति का अंश है (**मनः षष्ठाणि इन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**)। आप परमात्मा के अंश हो, शरीर प्रकृति का अंश है। अतः शरीर

आपका भी नहीं है। शरीर को 'मेरा' मानना भूल है। जितने भी विकार आते हैं, सब मन में, बुद्धि में, इन्द्रियों आदि में आते हैं—यह सब 'क्षेत्र' है यानी शरीर है। स्वयं में विकार आता ही नहीं है। आप इसको जानते हो कि विकार आता है, जाता है। तो आने-जाने वाले विकारों से आपका सम्बन्ध कैसा? आने-जाने वाला आप में कैसे आया? अतः आने-जाने वाले विकार मुझ में हैं ही नहीं। बस, यह बात याद रखो। मैं रहने वाला हूं, ये तो आने-जाने वाले हैं। इनसे मेरा सम्बन्ध कैसा? इस बात को पक्का कर लो।

यह नियम है कि संसार के साथ मिलने से संसार का ज्ञान नहीं होता। परमात्मा से अलग रहने पर परमात्मा का ज्ञान नहीं होता। अतः संसार से अलग रहने पर संसार का ज्ञान होगा और परमात्मा से अभिन्न होने पर परमात्मा का ज्ञान होगा। असत् के साथ मिलने से असत् का ज्ञान नहीं होता। असत् का ज्ञान होने से ही असत् की निवृत्ति होकर स्वतः सत् में स्थिति हो जाती है। इसलिए यदि असत् के साथ मिल जायेंगे, तो न सत् का ज्ञान होगा और न असत् का ज्ञान होगा। संसार से भिन्नता सही है, इसलिए संसार से भिन्न होने पर ही सत् का ज्ञान हो पायेगा। विकारों को अपने में मानते रहने से असत् से भिन्नता होती नहीं। अतः स्वरूप का बोध होता नहीं।

आपको यह बात नहीं जँचती तो कोई हरज नहीं। आप अन्तःकरण को शुद्ध कर लो। अन्तःकरण शुद्ध करने की चेष्टा करने से वह इतना जल्दी शुद्ध नहीं होगा, जितना इससे सम्बन्ध-विच्छेद करने से होगा। यदि आपको विश्वास हो कि जपादि अभ्यास से अन्तःकरण शीघ्र शुद्ध हो सकता है, तो वही कर लो। अवश्य कर लो, मैं मना नहीं करता।

शुद्ध करने की चेष्टा में आप असत् को सत् मानते रहोगे। आप सत् स्वरूप हो। सत् स्वरूप होकर आपने असत् मन, बुद्धि को अपना मानकर उनको सत्ता दे दी। यानी उनको सत् बना दिया। इस प्रकार असत् को सत् मानकर ठीक करना चाहोगे, तो बड़ी देर लगेगी और वह होगी नहीं।

हमने संतों से एक नयी बात पायी है। वह यह है कि तीनों ही शरीर (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) 'इदम्' हैं, यानी अपने से न्यारे हैं। इसको जो जानता है–वह है 'क्षेत्रज्ञ'। क्षेत्रज्ञ से शरीर सर्वथा अलग है, क्योंकि यह जानने वाला है और स्थूल, सूक्ष्म व कारण—तीनों ही शरीर जानने में आने वाले हैं। अतः तीनों शरीरों से आपका सम्बन्ध है नहीं। आपका सम्बन्ध परमात्मा से है। **क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि** (गीता १३/२)। यदि आप अपना सम्बन्ध शरीरादि के साथ न मानकर 'माम्' यानी परमात्मा के साथ मानोगे, तो इस से जितनी जल्दी शुद्धि होगी, इतना अपने में सद्गुण-सदाचारों के लाने के प्रयास से नहीं होगी।

आप परमात्मा के साथ जितने अभिन्न रहेंगे, उतनी ही आपमें स्वाभाविक शुद्धि आवेगी। स्वतः ही शरीर में, इन्द्रियों में, मन में, बुद्धि में शुद्धि आयेगी। क्योंकि, आपने सत् के साथ अभिन्नता मान ली। यह मूल चीज आपने पकड़ ली। यह बहुत सीधी बात है। इस पर खूब विचार करो।

अपना स्वरूप सत् है। अतः अपने स्वरूप में स्थित रहो। आने-जाने वाले असत् हैं। **मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय—आगमापायिनः** (गीता २/१४)। **संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते** (गीता ५/२२)। इनके साथ सम्बन्ध न मानो। जो भी इन्द्रियों और विषयों के संस्पर्श हैं—ये सब आने-जाने वाले हैं। इनके साथ संबंध करने

से ये शीतोष्ण सुखदुःखदा यानी अनुकूलता, प्रतिकूलता द्वारा सुख, दुःख देने वाले हैं। ये दुःख के उत्पत्ति-स्थान हैं। इन संयोगजन्य सुखों में आप रमण करते हैं, तब असत् का संग हो जाता है। असत् का संग पकड़ने के बाद जोर लगाते हैं शुद्ध करने का। समझते हैं कि हम ठीक करते हैं, पर बात कब्जे में आती नहीं है। यही उलझन है, यही असमर्थता है। इससे हताशपना आ जाता है कि अब कैसे भगवत्प्राप्ति होगी? इसका उपाय यह है कि अपना स्वरूप तो ज्यों का त्यों है और उसके साथ असत् का सम्बन्ध है ही नहीं। असत् के साथ माने हुए संबंध को छोड़ दो और अपना संबंध केवल परमात्मा के साथ मानो। असत् के साथ सम्बन्ध जोड़कर जहाँ इसको 'मैं' और 'मेरा' माना, वहीं भूल हो गयी।

असत् को 'मैं' मान लिया, 'मेरा' मान लिया—भूल तो यही है। असत् को अपना मानकर असत् को शुद्ध करना संभव नहीं। सत् ने अपना सम्बन्ध असत् से मानकर असत् को सत्ता दे दी और अब असत् को शुद्ध करना चाहते हो! यह कैसे संभव है? ममता रूपी मल को साथ रखे-रखे अन्तःकरण आदि असत् को कैसे शुद्ध बना सकते हो? अतः पहिले इन असत् मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियों आदि से अपना संबंध छोड़ो। तब ये स्वतः शुद्ध हो जायेंगे। आपका सम्बन्ध केवल भगवान् से है—इस बात को दृढ़ता से मान लो।

खूब सोचो। सत् का आश्रय रहे, संबंध रहे, तब तो ठीक है। इसलिए सत् का सम्बन्ध छोड़ो मत। छोटा बालक होता है, वह माँ की गोदी में रहना चाहता है। नीचे उतार दो तो रोने लग जाता है। इसी तरह यदि आप असत् में जाते हो, तो रोते क्यों नहीं? रोओ कि हम कहाँ आ पड़े! हम तो गोदी में ही

रहेंगे। अब कोई-न-कोई गोदी में रखेगा। उसको नीचे रखे तो रोने लग जाय। इसलिए परमात्मा के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखो। असत् के साथ सम्बन्ध होते ही रोने लग जाओ। भगवान् को आपका माना हुआ असत् का सम्बन्ध मिटाकर अपने साथ रखना पड़ेगा। क्योंकि, भगवान् माँ से बहुत अधिक दयालु हैं। उनसे आपका यह परमात्म-विषयक दुःख सहन नहीं हो सकता है।

१८. भगवत्प्राप्ति में भोग और संग्रह की रुचि ही महान् बाधा

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।। (२।४४)

भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति वाले पुरुषों को ऐसा निश्चय भी नहीं होता है कि हमें परमात्मा की प्राप्ति करनी है। उनके लिए तत्व की प्राप्ति तो बहुत दूर की बात है।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः। (१५।११)

यत्न करते हुए भी वे उस परमात्म-तत्व को नहीं जान सकते। कब तक ? जब तक कि भोग और संग्रह में आसक्ति है। सांसारिक पदार्थों से सुख लेते रहें और रुपये बने रहें, रुपयों का संग्रह बना रहे—जब तक ये भावनाएँ भीतर में बनी हैं, तब तक परमात्म-तत्व को स्पर्श नहीं कर सकते। उस तत्व की प्राप्ति ही करनी है, ऐसा उनका निश्चय भी नहीं हो सकता। उनके हृदय में परमात्मा के स्थान पर धन और भोग आकर बैठ गये। सुख भोगना है, और सुख-भोग के लिए संग्रह की आवश्यकता है। यह संग्रह और भोग की रुचि बहुत घातक है। धन का उपयोग अपने निर्वाह के लिए और औरों के निर्वाह के लिए खर्च करने में है। संग्रह तो केवल पतन करने के लिए है। संग्रह करने की रुचि है यानी मेरे पास इतनी चीज हो जाय, इतने रुपये हो जायँ। केवल संग्रह करना है, यह रुचि बहुत ही बाधक है। रुपयों, पदार्थों के संग्रह की रुचि की तो बात ही क्या, पढ़ाई करके भी संग्रह ज्यादा कर लूँ, बहुत पढ़ाई कर लूँ, बहुत शास्त्रों को पढ़ लूँ,

वेद-शास्त्र पढ़ कर शास्त्रार्थ कर लूँ, यह पढ़ाई के संग्रह की भावना जब तक रहेगी, तब तक मनुष्य परमात्म-तत्व को जान नहीं सकता। उसकी प्राप्ति के विषय में निश्चय भी नहीं कर पाता। इसी बात को श्री भगवान् गीता जी में दूसरे अध्याय के श्लोक ४२ से ४४ तक के प्रकरण में कहते हैं।

जो अपना कल्याण चाहता है, उसकी बुद्धि एक ही होती है कि परमात्म-तत्व ही है, उसको ही प्राप्त करना है। यही हमारे जीवन का ध्येय है। ऐसा इसका एक ही निश्चय होता है। जो सकाम मनुष्य है यानी जिसका ऐसा निश्चय नहीं है, जो संसार के भोग और संग्रह में आसक्त है, उसकी बहुत बुद्धियाँ होती हैं और वे बुद्धियाँ अनन्त शाखा वाली होती हैं। बुद्धियाँ भी अनन्त होती हैं और एक-एक बुद्धि की शाखा भी अनन्त होती है। जैसे, पुत्र मिले, यह एक बुद्धि हुई और उस पुत्र मिलने के लिए औषध का सेवन करे, किसी मन्त्र का अथवा जपादि का अनुष्ठान करे, अथवा किसी संत का आशीर्वाद ले, अथवा और कहीं की यात्रा करे, जिससे पुत्र की प्राप्ति हो। पुत्र की प्राप्ति यह तो एक बुद्धि हुई और इसकी प्राप्ति के नाना उपाय, उस बुद्धि की अनन्त शाखाएँ हुईं। इसी तरह धन की प्राप्ति एक बुद्धि हुई और उसकी प्राप्ति के उपाय मानों—व्यापार करना, नौकरी करना, चोरी करना, डाका डालना, ठगाई करना, धोखा देना आदि उस बुद्धि की अनन्त शाखाएँ हुईं। ऐसे पुरुषों को परमात्मा की प्राप्ति का निश्चय नहीं हो सकता।

श्रीगीता जी ने परमात्मा की प्राप्ति-विषयक एक निश्चय की बड़ी भारी महिमा गायी है। इतनी विलक्षण महिमा बतायी है कि जिसकी महिमा कही नहीं जा सकती। अपि चेत्सुदुराचारो—सांगोपांग दुराचारी, दुराचरण में जिसके कोई कमी नहीं है, जो झूठ, कपट, बेईमानी, अभक्ष्य-भक्षण, वेश्या-गमन, जुआ

खेलना, चोरी, व्यभिचार आदि जितने दुराचार संभव हैं, सब करने वाला है, ऐसा पुरुष भी, यदि परमात्मा की ओर ही चलने का निश्चय कर ले, तो भगवान् कहते हैं कि उसको साधु ही मानना चाहिए—साधुरेव स मन्तव्यः।

ऐसे दुराचारी को साधु क्यों मानना चाहिए? भगवान् आज्ञा देते हैं कि साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि सम्यक् व्यवसितो हि सः (गीता ९।३०)। उसने परमात्मा की प्राप्ति का एक निश्चय कर लिया है। अब निश्चय के अनुसार उसका जीवन धार्मिक हो जायेगा। उसका एक लक्ष्य बन गया, एक ध्येय बन गया कि अब कुछ भी हो जाय, एक भगवत्प्राप्ति ही करनी है। ऐसे पुरुष को सम्यग्व्यवसितो हि सः (जिसने भली भाँति निश्चित कर लिया है) कहते हैं।

एक प्रश्न उठता है कि भोग और ऐश्वर्य के संग्रह में जो आसक्त हैं, उनका तो परमात्मा की प्राप्ति का निश्चय नहीं हो सकता है और पापी से पापी भी ऐसा निश्चय कर सकता है। इन दोनों बातों में विरोध प्रतीत होता है। बात ठीक है। इसीलिए अपिचेत् पद श्लोक में आये हैं। साधारणतया पापी लोगों की भजन में रुचि नहीं होती। न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः (७।१५)। पापी लोग मेरा भजन नहीं करते, यह सामान्य बात है, परन्तु यदि पापी भजन का निश्चय कर ले, तो इस निश्चय के आधार पर उसे साधु ही मानना चाहिए। भगवान् ने ऐसा कहा है।

बात यह है कि पाप करने की भावना रहते हुए ऐसा निश्चय नहीं होता, यह ठीक है; परन्तु जीव मात्र भगवान् का अंश है, स्वभाव से निर्दोष है। संसार की आसक्ति के कारण दोष आये हैं। यदि उसके मन में पापों से घृणा होकर किसी तरह यह जँच

जाय कि 'भगवान् का भजन ही 'श्रेष्ठ' है, तो वह बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जाता है।

मनुष्य में जहाँ संसार की कामना है, वहाँ ही उसमें भगवान् की तरफ चलने की रुचि भी है। यदि भगवान् को प्राप्त करने की रुचि जम जाय, तो फिर कामना नष्ट होकर भगवत्प्राप्ति में देरी नहीं है। यह मानव के विवेक की महिमा है। यह सत्य है कि प्रायः पापियों के ऐसा निश्चय हुआ नहीं करता; परन्तु ऐसा नहीं है कि पापी ऐसा निश्चय नहीं कर सकते। महान् से महान् पापी अपना उद्धार कर सकता है। जब तक मृत्यु-काल नहीं आया है, तब तक इस मनुष्य में यह शक्ति है कि वह भगवत्प्राप्ति का निश्चय कर सकता है। परन्तु भोगों का, धन का महत्त्व हृदय में रखते हुए परमात्मा की प्राप्ति का निश्चय नहीं कर सकता।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि किये हुए पाप मनुष्य को भगवान् की ओर जाने में नहीं रोक रहे हैं। इसी तरह पदार्थ भगवान् की ओर जाने में नहीं रोक सकते। परन्तु वर्तमान में भोगों का महत्त्व जो है, वह बाधा दे रहा है। भोग उतना नहीं अटकाते, जितना भोगों का महत्त्व अटकाता है। आपकी रुचि, नियत-प्रधान है। पापी ने पाप बहुत किये, परन्तु अब उसकी रुचि, नियत पाप करने की नहीं रही, अब उसने निश्चय कर लिया कि एक परमात्मा की प्राप्ति ही करनी है। इसलिए उसे 'धर्मात्मा' बनते देर नहीं लगती है। क्योंकि, मनुष्य स्वयं परमात्मा का अंश है। परमात्मा की प्राप्ति में देरी नहीं है।

यदि भोग और संग्रह की रुचि को रखते हुए, परमात्मा की प्राप्ति करना चाहे, तो परमात्मा की प्राप्ति तो दूर रही, उनकी प्राप्ति का एक निश्चय भी नहीं हो सकता। कारण कि जहाँ भोगों की रुचि नहीं है, वहाँ ही परमात्मा है। रुचि जब तक

भोग संग्रह में है, मान, बड़ाई, आराम में है, तब तक कोई भी परमात्मा में नहीं लग सकता। क्योंकि, उसका चित्त भोगों की रुचि द्वारा हरा गया। जो शक्ति थी, वह भोग और ऐश्वर्य में लग गयो। भोग और संग्रह से मनुष्य को मिलेगा कुछ नहीं, बल्कि वह परमात्मा की प्राप्ति से वंचित रह जायेगा। धोखा हो जायेगा, धोखा। मान, बड़ाई कितने दिन रहेगी? मान, बड़ाई मिल कर भी क्या निहाल करेगी? भोग कितने दिन भोगेंगे? संग्रह कितने दिन रहेगा? माना, यहाँ खूब धन इकट्ठा किया, मर जाओगे तो धन यहीं रह जायेगा! आयु समाप्त हो जायेगी। परमात्मा की प्राप्ति से वंचित रह जाओगे।

इसलिए भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि यदि परमात्मा की प्राप्ति वास्तव में चाहते हो, तो भोग और संग्रह को महत्त्व मत दो। आज तो खर्च के लिए ही रुपयों का महत्त्व नहीं, बल्कि उनकी संख्या को भी महत्त्व दे रहे हैं। हम लखपती हो जायें, करोड़ पती हो जाँय। हमारे पास इतना संग्रह हो जाय! रुपया है, उसको खाने में खर्च नहीं कर सकते, अच्छे काम में खर्च नहीं कर सकते। एक धुन धन जोड़ने की लगी हुई है। संख्या कम न हो जाय, मूलधन में कम से कम एक लाख रुपया तो इस साल जमा हो जाय, ऐसी रुचि रहती है। लड़कों को उपदेश देते हैं कि 'जोड़ो। नहीं तो, कमाओ उतना खाओ। मूल पूँजी खर्च करते हो, तुम में अक्ल नहीं है।' मूल खर्च करते दुःख होता है। मूल में क्या तूली लगाओगे? नहीं खर्च करोगे तो क्या करोगे?

संग्रह की यह वृत्ति नरकों में ले जाने वाली है। माँ बाप बूढ़े हो जाते हैं, वे लड़कों को समझाते हैं कि 'तुम लोग बेअक्ल हो। मूलधन खर्च करते हो! इस मूलधन को मत छेड़ो। जितना कमाओ उतना खर्च कर लो। मूलधन मत कम करो। ऐसे

पुरुष परमात्मा की प्राप्ति क्या करेंगे ? वे कर ही नहीं सकते। साधु हो, गृहस्थ हो, पढ़ा लिखा हो, चाहे मूर्ख हो, चाहे पण्डित हो, भाई हो अथवा बहिन हो—इस प्रकार संग्रह करने की, तथा संग्रह बना रहे, यह रुचि रहेगी, तब तक आप परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग में नहीं चल सकते। आपको ऐसे संग्रह की रुचि नहीं है, तो चाहे आपके पास लाखों, करोड़ों रुपये हैं, आपको अटका नहीं सकते। बैंकों में बहुत धन पड़ा है, शहर में बहुत मकान हैं। वे हमको नहीं अटकाते। क्यों नहीं अटकाते ? क्योंकि उनमें हमारी ममता नहीं है। उनकी प्राप्ति की इच्छा नहीं है। हमारी इच्छा हो जायेगी, तो हम फँस जायेंगे। संसार मे बहुत धन है। हमारा बन्धन कहाँ है ? जितने धन में हमने ममता की है, वही तो बाँधने वाला है। संसार मात्र से हमारी मुक्ति स्वतः है। १०-२० आदमियों को, जिनको अपना मान रखा है, वहाँ ही बन्धन है। लाख दो लाख रुपया अपना मान रखा है, मकान अपना मान रखा है, वहीं फँसावट है। अपना जिनको नहीं माना है, वे मनुष्य मर जायँ, उनको कुछ भी हो जाय, हमारे चित्त पर कुछ असर नहीं पड़ता। जिन मकानों को अपना नहीं माना, वे सबके सब धराशायी हो जायँ, तो हम पर कोई असर नहीं पड़ता। जिन रुपयों को हमने अपना नहीं माना, वे चले जायें, लाखों करोड़ों की उथल-पुथल हो जाय, तो हम बँधे हुए नहीं हैं।

जब सारे संसार से बन्धन नहीं है, यदि इन थोड़ों को (जिन्हें अपना मान रखा है) भी त्याग कर दो, तो निहाल हो जाओगे। थोड़ी-सी मुक्ति बाकी हैं, ज्यादा बन्धन नहीं है। ज्यादा-सा बन्धन तो छुटा हुआ है ही। जिनमें आपकी ममता नहीं, उनसे आप मुक्त हो ही। जिनमें आप ममता करते हो, उनमें आप बँध जाते

हो। मनुष्यों में ऐसी ही चाल है। वे ज्यादा व्यक्तियों, पदार्थों में ममता करना चाहते हैं। वक्ता भी चाहता है, श्रोता ज्यादा आ जायँ। ऐसी इच्छा नहीं रखेंगे, तो फँसेंगे कैसे ? फँसने की तैयारी करते रहते हैं। इसलिए भोग मिल जाय, संग्रह हो जाय। अधिक मिल जाय :- पर और चाहने से मिलता नहीं। यदि मिल जाय तो टिकेगा नहीं और टिकेगा तो आप नहीं टिक सकेंगे। बन्धन जायेगा नहीं, बन्धन तो आपके छोड़ने से छूटेगा। इस तरह आप फँसे ही रहोगे। मरने के बाद आप छूट सकोगे नहीं—

मैं मैं बुरी बलाय है, सको तो निकलो भाग।
कब तक निबहे रामजी, रुई लपेटी आग॥

रुई में लपेटी आग कितने दिन ठहरेगी ? वह तो जलायेगी ही। जिन पदार्थों में 'मैं' 'मैं' करते हो, वे कितने दिन ठहरेंगे ? आप सम्बन्ध रखोगे, तो जल ही जाओगे। इसलिए प्रत्येक भाई-बहिन के लिए बहुत आवश्यक है कि संसार के भोगों को और उनके संग्रह की इच्छा को भीतर से त्याग दे।

भीतर से पदार्थों की इच्छा छोड़ देने पर पदार्थ प्रारब्धानुसार स्वतः आते हैं। चाहना से पदार्थों के मिलने में आड़ लगती है। अपनी चाहना का त्याग होने से आपकी आवश्यकता फैलती है। स्वतः लोगों के मन में आपकी आवश्यकताओं को पूर्ति के लिए प्रेरणा होती है। हमारे चाहना रखते हुए, हमारी इच्छा हममें सीमित हो जाती है। आड़ लग जाती है। जब कामना रखते हुए हमें धन मकान मिलता है, हम अपने को सफल मानते हैं। चाहना का त्याग होने पर वस्तुएँ हमारे काम में आकर सफल होंगी। आपके हृदय से पदार्थों प्राणियों की गुलामी निकल जायेगी।

परमात्म-तत्व में नित्य निरन्तर स्थिति चाहते हो तो उत्पत्ति विनाश वाली वस्तुओं का आकर्षण सर्वथा मिटाओ। उत्पन्न

और नष्ट होने वाली वस्तुओं में फँसे रहोगे, तो अनुत्पन्न तत्व नहीं मिलेगा। सदा साथ में रहता हुआ परमात्मा नहीं मिलेगा। उससे वञ्चित रह जाओगे। भोग और संग्रह रखोगे तो परमात्मा से वञ्चित रहने के सिवाय अन्य कुछ लाभ नहीं होगा। धन भी नहीं मिलेगा, यदि मिलेगा भी तो रहेगा नहीं। न भोग मिलेंगे। यदि मिलेंगे तो वे रहेंगे नहीं। और न आप रहोगे। केवल आपको जन्म-मरण में डालने वाला, नरकों में ले जाने वाला बन्धन रहेगा। इसलिए भोग और संग्रह की इच्छा सर्वथा त्याग दो।

आपके पास धन रहने से मेरा विरोध नहीं है। आप जो उसके गुलाम बनते हो, उससे मेरा विरोध है। न्याययुक्त कमाते हुए, लाख रुपया आ जाय तो मौज, लाख चला जाय तो मौज। वास्तव में धनपति आप तब हो। लाखों करोड़ों आ जायँ तो वही प्रसन्नता; चले जायँ तो भी आपको वही प्रसन्नता। तब तो आप धनपति हो। पर धन आने से हो जाओ प्रसन्न और चले जाने से रोने लग जाओ, तो आप धन-दास हुए, धनपति नहीं हुए। रुपये जाने से रोना ही रोना आ रहा है। हमारा मालिक धन चला गया, अब कैसे रहें? उससे पूछा जाय कि क्या चला गया भाई? अरे, जिसने कमाया था, वह तो मौजूद है। परन्तु बात अकल में आती नहीं। धन को हमने अपना इष्टदेव मान रखा है। जिन्होंने धन को इष्टदेव मान रखा है, उनको झूठ, कपट, बेईमानी, धोखेबाजी का आश्रय लेना पड़ता है। उनके मन में दृढ़ता से यह भाव जम गया है कि झूठ, कपट, जालसाजी, बेईमानी, ठगी, ब्लेकमार्केट किये बिना पैसा पैदा नहीं हो सकता। धन को चाहने वाले को झूठ, कपट, ब्लेक आदि के प्रति भक्ति पैदा होगी। जैसे रामजी का भक्त राम जी को याद करता है, ऐसे ही धन के भक्त को झूठ, कपट, छल, ठगी आदि की भक्ति

करनी पड़ती है। कोई कितना कहे, उनको यही बात जँची हुई है कि झूठ, कपट, चोरी बिना पैसा पैदा हो नहीं सकता। ब्रह्माजी की भी ताकत नहीं जो उन्हें समझा दे। कोई उन्हें ठीक बात समझावे, तो उसको वे मूर्ख समझते हैं। आज के जमाने में झूठ, कपट, बेईमानी, अन्याय बिना काम कैसे चल सकता है?—यह दृढ़ धारणा उनके मन में बैठ गयी है। इसलिए यदि परमात्म-तत्व की प्राप्ति करनी है, तो धनादि पदार्थ के भोग और संग्रह की आशा का कत्तई त्याग करना ही पड़ेगा।

भोग और संग्रह की रुचि रखते हुए तत्त्व की प्राप्ति, उसकी अनुभूति संभव नहीं। आजकल भगवत्तत्व की बातें जल्दी समझ में न आने का कारण मुख्यतया यही है कि भोग और संग्रह की रुचि छोड़ते नहीं और सच्चे हृदय से इस रुचि को छोड़ना चाहते नहीं। इस रुचि को त्यागे बिना परमात्म-तत्व की बातें समझ में आतीं नहीं।

१९. असत् पदार्थों का आश्रय मानना ही बड़ी भूल

असत् पदार्थों का आश्रय मानना मनुष्यों की बड़ी भूल है। 'इन उत्पन्न और नष्ट होने वाले पदार्थों के बिना मेरा काम नहीं चलेगा'—यह सोचना खास भूल है। आप स्वयं परमात्मा का अंश हैं, इसलिए सत् हैं। संसार की वस्तुएँ सब की सब परिवर्तनशील हैं, इसलिए असत् हैं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २।१६)

सत् का कभी अभाव नहीं होता अर्थात् वह कभी न रहता हो तथा उसमें किसी प्रकार की कमी आती हो—ऐसा है ही नहीं। असत् वस्तुओं का कभी भाव नहीं होता यानी वे कभी भी रहती ही नहीं। जिस समय रहती प्रतीत होती हैं, उस समय भी वे नष्ट ही हो रही हैं। इस प्रकार इन दोनों का (सत् और असत् का) तत्त्व तत्त्वदर्शी महापुरुषों द्वारा देखा गया है। दोनों का तत्त्व जानने का अभिप्राय है कि एक सत् तत्त्व का अनुभव रह जाना।

'बचपन से आज तक मैं वही हूँ'—ऐसा प्रत्येक मनुष्य का अपना अनुभव है। शरीर, शक्ति, योग्यता, देश, काल, परिस्थिति, खेल के पदार्थ—सब के सब में परिवर्तन हुआ है, परन्तु मैं वही हूँ। परिवर्तन होने वाले हुए असत् और मैं हुआ सत्।

सत् वैसा का वैसा रहा, आज तक इसका कभी अभाव हुआ नहीं। उसमें किसी प्रकार की कमी आयी नहीं, फिर भी मनुष्य अपने को असत् के अधीन मानता है। कहता है कि मेरा इनके बिना काम चलेगा नहीं। रुपये-पैसे के बिना, कुटुम्ब के बिना, मकान के बिना, कपड़ों के बिना, रोटी-अन्न-जल के बिना मेरा काम नहीं चलेगा। इस प्रकार इन परिवर्तनशील पदार्थों का आश्रय लेना असत् का आश्रय है। इनका स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं। स्वतंत्र अस्तित्व होता तो इनको 'असत्' कैसे कहते? असत् नाम उसी का होता है—जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। वह किसी के आश्रित रहता है। वह निरन्तर मिटता रहता है, अदृश्य होता रहता है, निरन्तर अभाव में जाता रहता है। आश्चर्य होना चाहिए कि मैं सत् होकर इन असत् के पराधीन कैसे हो गया हूँ?

पराधीनता में स्वाधीनता-बुद्धि—वह खास गलती है। इस बात को आप समझो। मान लो, हमें चश्मा लेने की जरूरत हुई। चश्मा लेना है तो क्या करें? किससे कहें, कौन दिलावे? हम तो पराधीन हो गये। यदि हमारे पास रुपये होते तो हम पराधीन नहीं होते, चट्ट चश्मा मोल ले लेते। परन्तु रुपया हमारे पास है नहीं, इसलिए हम पराधीन हो गये।

रुपया मेरे पास होने से मैं चश्मा मोल ले लेता और रुपया नहीं होने से मैं पराधीन हो गया। परन्तु मनुष्य ध्यान नहीं देता, यह रुपया क्या है? रुपया भी तो 'पर' ही है। रुपया 'स्वयं' थोड़े ही है! रुपया आता है और जाता है और आप रहते हो। तो रुपया भी तो 'पर' ही हुआ। आप स्वयं रुपये हो क्या? तो रुपयों के अधीन होने पर अपने को स्वाधीन मान लिया—यह बड़ी भूल होती है।

पराधीनता में स्वाधीनता-बुद्धि हो गयी—यह बड़ा भारी अनर्थ हुआ। इसके समान दूसरा अनर्थ कोई है ही नहीं। सम्पूर्ण पाप इसके बेटे हैं। पाप है, अन्याय है, झूठ है, कपट है, नरक है--सब इस बुद्धि के होने से ही होते हैं। पराधीनता-बुद्धि हो गयी, गजब हो गया। रुपया 'स्व' है अथवा 'पर' है ? रुपयों के अधीन होना पराधीनता है अथवा स्वाधीनता है ? इस पर आप विचार करो। यह महान् अनर्थ की बात हो गयी कि पराधीनता में स्वाधीनता की बुद्धि हो गयी। मानते हैं कि रुपये हमारे पास हों तो हम चट् रेल पर, हवाई-जहाज पर चढ़कर जहाँ जाना हो चले जायँ; हम यह ले लें, वह ले लें, हम स्वतन्त्र हैं। रुपये हमारे पास नहीं, इसलिए हम पराधीन हुए। अब हमें औरों के मुख की ओर ताकना पड़ता है। परन्तु हम लोग इधर ध्यान नहीं देते कि रुपये होने से हम पराधीन हुए या स्वाधीन हुए ? ज्यादा रुपये होने से ज्यादा पराधीन और थोड़े रुपये होने से थोड़े पराधीन। यद्यपि यह बात प्रत्यक्ष है कि रुपये हों तो अमुक वस्त्र ले लें, अमुक वस्तु ले लें। रुपयों बिना वस्तुएँ मिलती नहीं, तो हम स्वाधीन कैसे हुए ? भया, स्वाधीन हम तब होंगे, जब हमें कोई जरूरत ही नहीं रहे। चश्मे की जरूरत नहीं, अन्न की जरूरत नहीं, जल की जरूरत नहीं, वस्त्र की जरूरत नहीं। क्योंकि आप सत् हैं, आप इनके बिना भी रह सकते हैं। परन्तु ऐसी स्वाधीनता कब होगी ?—जब अपने को शरीर से अलग अनुभव करोगे, तब सच्ची स्वाधीनता होगी।

शरीर के साथ मिलकर आप और शरीर एक हो जाते हो। अब शरीर की आवश्यकता आपकी आवश्यकता हो जाती है। जैसे कोई पुरुष व्याह कर लेता है, तो वह लहंगा, नथ आदि मोल लेता है। वह कहता है कि मुझे नथ और लहंगा चाहिए। उससे पूछे, "क्या तुम लहंगा, नथ पहनते हो ?" तो

उत्तर देता है, "नहीं, मुझे नहीं, घर में चाहिए।" उसने जब स्त्री के साथ सम्बन्ध कर लिया, तो स्त्री की आवश्यकता भी उसकी अपनी आवश्यकता हो गयी। ऐसे ही इस शरीर के साथ 'मैं-मेरा' कर लेने से 'शरीर की आवश्यकता आपकी अपनी आवश्यकता' दीखने लग गयी। यही गलती है। आपकी आवश्यकता नहीं है; शरीर की आवश्यकता है। आपकी आवश्यकता बिल्कुल नहीं है।

प्रश्न—'शरीर से मैं अलग हूँ, यह अनुभव नहीं होता।'

उत्तर—आप सत् हो, शरीर असत् है—यह जानते हो या नहीं ? आप अविनाशी हो, शरीर विनाशी है। आप अविनाशी की, विनाशी शरीर से एकता कैसी ? आप सत् होते हुए भी असत् शरीर से सम्बन्ध मानते रहते हो,—यही भूल है।

प्रश्न—'इस अलगाव को जानते हैं, पर यह जानकारी स्थायी नहीं रहती है।'

उत्तर—आप यदि इस जानकारी को स्थायी रखना चाहोगे, तो क्यों नहीं रहेगी ? आपको इसके टिकाऊ न रहने का कोई दुःख थोड़े ही है। सच्ची बात है कि आप अलग हैं, शरीर अलग है—आपका ऐसा अनुभव है। सच्ची बात सच्ची ही रहती है। परन्तु आप इस बात का आदर नहीं करते हैं—यही आपकी भूल है।

मर्म की बात यह है कि चाहने पर शरीर-निर्वाह के पदार्थ भी मिल ही जाते हों—यह नियम नहीं। अन्न, जल आदि की शरीर की आवश्यकताएँ स्वतः प्रारब्ध से पूरी होती हैं। मनुष्य व्यर्थ में उनकी चिन्ता करता रहता है।

प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा शरीर।
तुलसीदास चिन्ता क्यों करे भज ले श्री रघुवीर।

गोस्वामी तुलसीदास ने स्वयं कहा है कि शरीर-निर्वाह प्रारब्धाधीन है। आप हम जानकर आफत मोल ले लेते हैं। शरीर का तो जैसे निर्वाह होना होगा, वैसे होगा। चेष्टा करने पर भी होगा और चेष्टा न करने पर भी होगा। चेष्टा कितनी ही कर लो यदि मरना पड़ेगा, तो बिना अन्न मरना पड़ेगा। यदि नहीं मरना है तो कुछ भी चेष्टा मत करो, शरीर का निर्वाह होगा।

शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध परमात्मा की तरफ से है। पर आपकी तृष्णा की पूर्ति के लिए प्रबन्ध नहीं है। इस बात पर ध्यान देना। आप जो चाहते हो कि इतना मिल जाये, इतना मिल जाये, उस कामना की पूर्ति के लिए प्रबन्ध नहीं है। ऐसा प्रबन्ध नहीं है, परन्तु आपके शरीर-निर्वाह के लिए प्रबन्ध पूरा का पूरा है। जिसने जन्म दिया है, उसने पूरा प्रबन्ध कर दिया है। विचार करो कि अपनी माँ के स्तनों से दूध का प्रबन्ध अपने लिए आपने-हमने कोई उद्योग किया था? वह प्रबन्ध जिसने किया था, क्या वह बदल गया? क्या वह मर गया? क्या नयी बात हो गयी?

इसलिए निर्वाह-मात्र की चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिए। चेष्टा करने को मैं रोकता नहीं। चेष्टा करो, निर्वाह मात्र के लिए। पदार्थों और कर्मों का सम्बन्ध है। इसलिए उद्योग करो, परिश्रम करो, परन्तु चिन्ता मत करो। चिन्तन तो केवल परब्रह्म परमात्मा का ही करो। चिन्तन-योग्य तो एकमात्र परमात्मतत्त्व ही है। संसार के पदार्थों का चिन्तन तो व्यर्थ है और केवल मूर्खता है।

मोटरकार की चार अवस्थाएँ होती हैं—एक तो वह गैरेज में खड़ी है। इस समय न तो इंजन चलता है और न पहिये।

दोनों बन्द हैं। जब मोटर चालू करते हैं, तो इंजन तो चलने लगता है, पहिये नहीं चलते। और जब वहाँ से रवाना कर देते हैं, तब चक्के भी चलते हैं, इंजन भी चलता है। चलते-चलते यदि साफ ढालू मैदान आ जाय, साफ सड़क दीख रही हो, वृक्षादि कोई आड़ नहीं हो और जमीन नीचे की ओर हो तो उस समय इंजन बन्द कर दो तो भी पहिये चलते रहेंगे, तेल जलेगा नहीं। इस प्रकार मोटर की चार अवस्थाएँ हुईं। इन चारों अवस्थाओं में बढ़िया अवस्था कौन-सी है ?

इंजन तो चलता नहीं और चक्के चलते हैं। घटिया अवस्था हुई—तेल जले यानी इंजन चले और पहिये चलें नहीं। खर्चा तो होता नहीं, मुसाफिरी हो जाय—यह अवस्था बढ़िया हुई। हम भीतर से चिन्ता करते हैं—यह तो है तेल जलना। चिन्ता न करके कर्त्तव्य-कर्म करना—यह है बिना तेल जले चक्कों का चलना। इसी को गीताजी ने कर्मयोग कहा है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि। (गीता २।४७)

अकर्मण्य कभी मत होओ। कर्म करते रहो, फल की इच्छा कभी मत करो। चिन्ता मत करो कि क्या मिलेगा, कैसे मिलेगा ? क्योंकि, चिन्ता से, कामना से पदार्थों का सम्बन्ध नहीं है। पदार्थों का सम्बन्ध कर्मों से है, कर्म चाहे पहले के हों अथवा वर्तमान के। चिन्तन से परमात्मा मिलते हैं। यहाँ समझ लेना चाहिए कि चिन्तन कर्म नहीं है। चिन्तन है परमात्मा की प्राप्ति की लालसा। परमात्मा अपनी लालसा से मिलते हैं और पदार्थ कर्मों से मिलते है। इसलिए कर्म करो, चिंतन का इंजिन चलाकर तेल क्यों फूँको अर्थात् चिन्ता क्यों करो ? कामना क्यों करो ?

चिन्ता करने में एक बात समझने की है। अन्तःकरण की दो

वृत्तियां हैं—एक चिन्ता और एक विचार। विचार करना आवश्यक है और चिन्ता करना दोष है। बुद्धि शोकेन नश्यति। चिन्ता से बुद्धि नष्ट हो जाती है। काम विचार कर करना है। 'चिन्ता न करो'—यह कहने में विचार न करने की बात नहीं है। विचार तो आवश्यक है। विचार पूर्वक कर्म किया जावेगा, वह ठीक होगा और चिन्ता हो जायेगी तो काम घटिया होगा। भूल हो जायेगी। जिसको शोक-चिता होती है, उसको होश नहीं रहता। उसकी बुद्धि विकसित नहीं होती। चिन्ता करने से बुद्धि नष्ट हो जाती है, इसलिए चिन्ता न करने के लिए कहा गया है। छोटे-से-छोटा, बड़े-से-बड़ा काम विचार-पूर्वक करना है। गीताजी में हानि, हिंसा, सामर्थ्य का विचार न करके कर्म करने को 'तामस कर्म' कहा है (१८।२५)।

चिन्ता करके हम अपनी आवश्यकता पूरी कर लेंगे—यह हमारे हाथ की बात नहीं। वास्तव में विचार किया जाय, तो जिनको हम शरीर की आवश्यकता मानते हैं, वे आवश्यकता भी वास्तव में आवश्यकता नहीं हैं। क्योंकि, शरीर ही जब वास्तविक नहीं है, सत् नहीं है, तब उसकी आवश्यकता वास्तविक कैसे होगी? आप स्वयं वास्तविक हो, सत् हो तो आपकी आवश्यकता ही वास्तविक है। आपकी आवश्यकता है—परमात्म-तत्त्व को प्राप्त करने की। यह आपकी वास्तविक आवश्यकता है। संसार की जो कामना है, शरीर-निर्वाह मात्र की आवश्यकता है, ये पूरी होने वाली होगी तो पूरी हो जायेगी और नहीं पूरी होने वाली होगी तो पूरी नहीं होगी। पर परमात्म-तत्त्व की आवश्यकता आप चाहोगे तो अवश्य पूरी होगी, क्योंकि उसी के लिए तो मनुष्य-शरीर मिला है।

मनुष्य-शरीर खाने-पीने के लिए नहीं मिला है। भोग भोगने के लिए नहीं मिला है। रुपया कमाने के लिए नहीं मिला है।

हमने शास्त्रों में कहीं नहीं पढ़ा कि रुपये कमाने के लिए मनुष्य-शरीर मिला है। शास्त्रों में ऐसा नहीं पढ़ा कि शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए ही मनुष्य-शरीर मिला है अथवा भोग भोगने के लिए मनुष्य-शरीर मिला है। मनुष्य-शरीर मिला है—उद्धार करने के लिए, कल्याण करने के लिए।

कल्याण के विषय में भी एक बड़ी रहस्य की बात है, जिधर प्रायः लोगों का ख़याल नहीं जाता। देहादि के आश्रय रखते हुए ही साधन करने से भगवत्-तत्त्व की अनुभूति होगी—यह बड़ी भूल है। किये हुए साधन से अहं भाव ज्यों-का-त्यों बना रहता है। 'अहं' 'मैं पन' जब तक परमात्म-तत्त्व से अभिन्न नहीं होता, तब तक परिछिन्नता बनी रहती है। साधन सारे-के-सारे अहं-भाव से किये जाते हैं। इसलिए शरीर से यानी मन, बुद्धि, इन्द्रियों से तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। विवेक-शक्ति मानव मात्र को प्राप्त है। उसमें अपने को असत् से अलग जानने की शक्ति है। इस प्रकार विवेक द्वारा अपने को असत् से सर्वथा पृथक् जानकर सत्-स्वरूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति का अनुभव किया जा सकता है। मनुष्य-शरीर में इस विवेक-शक्ति की महिमा है, न कि मनुष्य की आकृति की।

हमने असत् के साथ ममता, कामना का तादात्म्य करके ही अपनी सत्ता यानी 'मैं पन' खड़ा कर लिया है। इस मैं-पन को विवेक द्वारा मिटा सकते हैं। मैं-पन हटने से ममता, कामना का अभाव स्वतः हो जायेगा। असत् वस्तुओं का आश्रय लेकर यानी उनके साथ सम्बन्ध जोड़कर एक सत्ता मान लो, यही हमारी खास भूल है। भगवत्-दत्त विवेक के प्रकाश से हम उस भूल का अन्त बहुत सुगमता और शीघ्रता से कर सकते हैं।

—:o:—

२०. स्वार्थ त्यागकर सबकी सेवा ही कर्मयोग

एक ही शरीर के अनेक अवयव हैं। हाथ हैं, पैर है, मस्तिष्क हैं। ये सब शरीर के निर्वाह के लिए काम करते हैं। सब अवयवों के काम अलग अलग हैं। हाथ का काम लेने-देने का है। पैरों का काम चलना है। इन्द्रियों का काम भी अलग-अलग है। प्राणों के कार्य अलग-अलग हैं। मन बुद्धि के काम अलग-अलग हैं। अलग-अलग काम करते हुए सभी अङ्ग सब के हित में लगे हुए हैं। इसी तरह से अनेक प्राणी समाज के हित के लिए हैं। उन सबको मिलकर समष्टि संसार के हित में लगे रहना चाहिये।

जहाँ हम अपने स्वार्थ के लिए काम करते हैं, वहीं गल्ती होती है। मान लो, हाथ केवल अपने लिए काम करें, पाँव अपने लिए काम करें, आँख कान अपने लिए काम करें, तो इस हालत में शरीर का निर्वाह नहीं होगा। पैर कहे कि हम अपना ही काम करेंगे, शरीर को उठाये नहीं फिरेंगे। शरीर को हम क्यों उठायें? हाथों को हम क्यों उठावें? ऐसे शरीर का काम नहीं चल सकता। अङ्गों का काम नहीं चल सकता। इसी तरह स्वार्थवश होकर यदि हर प्राणी अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहे तो संसार का काम नहीं चल सकता, क्योंकि संसार के अवयव हैं—सभी शरीर।

शरीर किसी भी रीति से संसार से अलग सिद्ध नहीं हो सकता। बनावट की दृष्टि से, धातु की दृष्टि से, संरक्षक की दृष्टि से। किसी भी रीति से आप देखो, जैसे एक शरीर के अवयवों की आकृति उनके कर्म अलग-अलग होते हुए भी वे एक शरीर के ही अंग हैं, वैसे ही संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे एक विराट् शरीर के ही अङ्ग हैं। छोटे-बड़े सभी प्राणी सब उसके ही अंग हैं। विराट् शरीर के अङ्ग होकर विराट् शरीर के हित के अतिरिक्त अपना व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध करते हैं, यह हम गल्ती करते हैं।

पशु पक्षियों में यह विवेक नहीं है कि अपना स्वार्थ सिद्ध करें अथवा न करें, परन्तु मनुष्यों को भगवान् ने विवेक दिया है। इसलिए उनको यह विचार आता है कि हम अपना ही स्वार्थ सिद्ध कैसे करें। स्वार्थरत मनुष्य अपने कुटुम्ब के पालन में ही लगे रहते हैं, परन्तु **उदारचरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्** यानी उदारचरित पुरुषों की दृष्टि में सारी वसुधा ही अपना कुटुम्ब है। यह मानवता है। **अयम् निजः परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्**—यह अपना है, यह पराया है, ऐसी गिनती तो तुच्छ विचार वाले पुरुषों की होती है। जिनके हृदय के भाव तुच्छ हैं, जो स्वार्थरत हैं, उन लोगों की ऐसी भावना होती है। उदार भावना वाले पुरुषों के लिए सारा संसार ही कुटुम्ब है। उनकी दृष्टि में कोई भी प्राणी चाहे स्थावर हो या जंगम, वह अपने कुटुम्ब का ही है। जैसे अपने घर में रहने वाले पारिवारिक सदस्य अपने कुटुम्बी हैं।

शास्त्रों में आया है कि घर में रहने वाली चींटियाँ, मक्खियाँ, चूहे सभी हमारे कुटुम्बी हैं। वे भी उसे अपना घर मानते हैं। चिड़ियाँ जहाँ अपना घर बनाती है, वहाँ वे दूसरी चिड़ियों को नहीं रहने देतीं। सोचिये, एक घर में कितने घर हैं। सबको अपना-अपना घर है। अपना-अपना घर समझ कर काम करना—यह पशुता है। भागवत् में आया है—**'पशु बुद्धि इमाम् जहि'** अर्थात् इस पशु-बुद्धि को छोड़ दो। 'मैं-मेरा' मानना ही पशु-बुद्धि है। अहंता-ममता करना मानवी बुद्धि नहीं है।

मानवी बुद्धि में सबके हित में अपना हित है। उसमें अपना व्यक्तिगत हित नहीं होता। सबका हित ही अपना हित है। आज हम लोगों की आध्यात्मिक उन्नति में देरी हो रही है, इसका कारण क्या है? यही है कि हम अपना व्यक्तिगत हित ही चाहने लगे हैं। हम अपने व्यक्तित्व यानी परिछिन्नता को कायम रखना

चाहते हैं। मुक्ति चाहते हैं, मेरी मुक्ति हो जाये, मुझे सुख मिले, मेरा हित हो, मेरा स्वार्थ सिद्ध हो। ऐसा पशु स्वभाव रख कर ही हम काम करते हैं। इसीलिए हमारा शीघ्र उद्धार नहीं हो रहा है।

भगवान् ने गीताजी में कहा है—**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ** अर्थात् मनुष्य देवताओं की वृद्धि करे और देवता मनुष्यों की वृद्धि करें। मनुष्य देवताओं का पूजन करते हैं, उनका आदर करते हैं, उनकी वृद्धि करते हैं। देवता मनुष्यों को कर्तव्य-पालन की आवश्यक सामग्री देते हैं, जिनसे मनुष्य फिर उनका पूजन कर सकें। तीसरे अध्याय के दसवें श्लोक में आया है कि यज्ञ के सहित प्रजापति ने प्रजा पैदा की। यज्ञ का अर्थ कर्तव्य होता है। वहाँ मनुष्यों और देवताओं के कर्तव्य का वर्णन आता है। 'यज्ञों की रचना' कहकर मनुष्यों और देवताओं को कर्तव्य भी बता दिया। मनुष्यों के लिए केवल देवताओं की वृद्धि करना कर्तव्य है—यह भाव नहीं है। देवता तो उपलक्षण रूप से हैं, मनुष्य के लिए प्राणी-मात्र का हित चाहना कर्तव्य है। जिन प्राणियों से उसका सम्बन्ध है, उनके प्रति कर्तव्य का पालन करना और बदले में अपने लिए कुछ नहीं चाहना। इस प्रकार कर्तव्य-पालन करने से उसको कर्तव्य की सामग्री स्वतः देवताओं से और अन्य प्राणियों से मिलती रहेगी। इससे समझना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्म द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों की सेवा करे।

भगवान् ने (१८।४६ में) कहा है—अपने-अपने कर्मों से भगवान् की पूजा करके मनुष्य अपना उद्धार कर लेता है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(१८।४६)

अपने कर्मों द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों के रूप में भगवान् का पूजन करके सिद्धि को प्राप्त करो। हाथ अपने कर्मों द्वारा शरीर के सभी अङ्गों को सेवा करें। मुख अपने कर्मों द्वारा सबकी सेवा करे। पेट में अन्न जावे तो उसको ठेठ नाड़ियों तक पहुँचा कर सेवा करे। इस तरह अपने स्वार्थ की भावना न रखकर सबकी सेवा की जाये तो कल्याण की प्राप्ति हो जाय।

परमश्रेय की प्राप्ति में बाधक है—अपने स्वार्थ की भावना। हममें कुटुम्बगत, व्यक्तिगत स्वार्थ-भावना है, अपनी जातिगत, देश-गत, स्वार्थ-भावना है—यही घटियापना है। उदारता के भाव जितने अधिक होंगे, उतना ही अच्छा होगा। तुच्छ भाव जितने आते जायँगे यानी अपने शरीर के लिए सीमित स्वार्थ-भाव रहेगा, उतना ही तुच्छ रहेगा। अपने पास जो वस्तुएँ हैं, वे समष्टि की हैं और सबकी सेवा के लिए हैं। अपना निर्वाह करो और सब की सेवा भी करो। अपनी वस्तुओं को केवल अपने सुख-भोग के लिए ही मत समझो।

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

'एहि तनु कर फल विषय न भाई।' इस मनुष्य-शरीर का लक्ष्य विषय भोगना नहीं है। संसार का सुख लेना नहीं है, किन्तु सबकी सेवा करनी है। सबको सुख कैसे पहुँचे, सबका भला कैसे हो, सबको आराम कैसे पहुँचे—इस बात का चिन्तन करो। यही विचार करो। गीताजी के तीसरे अध्याय के ११वें श्लोक में मनुष्य को देवताओं की वृद्धि करने के लिए कहा गया है। वहाँ १२वें श्लोक में यह कहा गया है कि देवता लोग मनुष्यों को **'इष्ट भोग'** देंगे। इष्ट-भोग का अर्थ प्रायः टीकाकार इच्छित पदार्थ ही लेते हैं, परन्तु यहाँ इस प्रकरण में आगे और पीछे परमश्रेय की प्राप्ति की बात है। ९वें श्लोक में कहा है कि 'यज्ञ के लिये किये जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त कर्म बाँधने वाले हैं' तात्पर्य है कि यज्ञ के

लिए कर्म किया जाये तो मुक्ति होगी, अन्यथा बन्धन। ११वें श्लोक में परम-कल्याण की प्राप्ति की बात कही गयी है। १३वें श्लोक में कहा है कि 'यज् से बचे हुए अन्न को खाने वाले सम्पूर्ण पापों से मुक्त होते हैं' यानी कल्याण को प्राप्त होते हैं। अतः जहाँ परम-कल्याण की प्राप्ति का प्रकरण है, वहाँ देवता लोग इच्छित भोग मनुष्यों को देंगे—यह बात कहना प्रासंगिक नहीं प्रतीत होता।

अतः यहाँ 'इष्टान् भोगान्' पद का अर्थ 'यज्ञ की सामग्री' लेना चाहिए। 'भुज्' धातु का एक अर्थ 'पालन' होता है, एक अर्थ 'खाना' होता है। पालन अर्थ में 'भुंक्ति' पद होता है, वह परस्मैपद होता है और 'खाने' अर्थ में 'भुङ्क्ते' पद होता है। वह आत्मनेपद होता है। 'अवनि भुङ्क्ति' और 'ओदनम् भुङ्क्ते' —ऐसे वाक्य बनते हैं। पृथ्वी का पालन करने के अर्थ में और भात खाने के अर्थ में—दोनों में 'भुज्' धातु व्यवहृत होता है। 'भोग' शब्द दोनों अर्थ में बनता है। इसलिए जहाँ कल्याण की बात चल रही हो, वहाँ सबकी रक्षा के आवश्यक पदार्थ यानी यज्ञ की सामग्री अर्थ लेना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। भगवान् ने १२वें श्लोक में भुङ्क्ते पद देकर यह बात बतायी है कि सबके लिए दी हुई सामग्री को जो अकेला खा जाता है—वह चोर है। यदि भोग मनुष्य के लिए दिया हुआ होता और वह उसे खाता, तो उसे चोर कहना युक्तिसंगत नहीं। इसलिए मनुष्य को जो भी सामग्री मिली है, वह अकेले भोगने का वह अधिकारी नहीं है। वह सब की सेवा में लगाने के लिए ही मिली है।

किसी के घर में यदि पैसे कमाने वाला व्यक्ति कह दे, "मैं ही कमाता हूं, मैं अकेला ही खाऊँगा", तो क्या यह बात न्याययुक्त होगी? स्त्री को कह दे कि "तू तो घर पर बैठी रहती है, तुझे क्यों कमाई का हिस्सा दिया जाय? माँ-बाप भी घर पर बैठे रहते हैं, इनको भी क्यों दिया जाय? मैंने प्रश्रिम किया है, मैंने

कमाया है। मैं अकेला ही भोग करूँगा। इस परिस्थिति में क्या परिवार सुचारु रूप से चलेगा? अर्थात् कभी नहीं। ऐसे ही हम अपने-अपने स्वार्थ की बातें करें तो सृष्टि का काम ठीक तरह से नहीं चल सकेगा। स्वार्थ का त्याग करके कर्त्तव्य-कर्म करने से ही सृष्टि-चक्र ठीक से चलेगा। इसीलिए भगवान् ने गीता (३।१६) में कर्तव्य-पालन न करने वाले की बड़ी भारी भर्त्सना की है। मनुष्य यदि अपने कर्त्तव्य का पालन करे तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। कर्तव्य का सम्बन्ध केवल परहित में ही होता है। अपने लिए चाहना तथा करना भोग है, कर्तव्य नहीं।

मनुष्य अपने कर्तव्य का सुचारु रूप से साङ्गोपाङ्ग पालन न करके बन्धन में पड़ता है, नहीं तो मुक्ति स्वतः-सिद्ध है। हमारे पास जो कुछ है, वह सब संसार से ही हमें मिला है। अन्न है, जल है, वस्त्र है, हवा है, पानी है, रहने का स्थान है—हमें सब समष्टि संसार से मिला है। धनी से धनी राजा-महाराजा भी यह नहीं कह सकता कि मैं दूसरों से सेवा लिए बिना अपना निर्वाह कर सकता हूँ। अकेला अपना निर्वाह कोई भी नहीं कर सकता। सड़क पर चलता है, तो क्या सड़क अपनी बनायी हुई है? वृक्ष के नीचे मनुष्य आराम करता है तो क्या वृक्ष उसका अपना लगाया हुआ है? कहीं जल पीता है तो क्या कुआँ उसने ही खुदवाया है? संसार से लेना ही पड़ता है। अपने निर्वाह के लिए हमें सबसे सेवा लेनी ही पड़ती है। इसलिए यदि वास्तव में हम मनुष्य हैं, तो हमने जितना लिया है, उससे अधिक देना चाहिए। सबके हित के लिए हमें काम करना चाहिए। जब औरों की उदारता पर हम जीते हैं, तो हमें भी औरों के प्रति उदार होना चाहिए। सबके हित में रति रहने से भगवत्प्राप्ति हो जाती है। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः (१२।४)। अतः हमें सबके हित की भावना से ही कर्तव्य-कर्म करने चाहिये।

सारा संसार भी मिलकर एक आदमी की इच्छा की पूर्ति कर दे—यह सम्भव नहीं। परन्तु एक आदमी सारे संसार के हित की भावना पूरी-की-पूरी कर सकता है। हम भले ही एक आदमी की इच्छा-पूर्ति न कर सकें, परन्तु अपने पास जो सामग्री है उसको उदारता-पूर्वक दूसरों के हित में समर्पित कर दें तो हमें कल्याण की प्राप्ति हो जायेगी।

मनुष्य जितने कम व्यक्तियों के सुख का, हित का भाव रखेगा, उतना ही वह नीचा समझा जायेगा। कमाने वाला यदि केवल अपना पेट भरेगा या आप ही अधिक खर्च करेगा तो घर में आदर नहीं पायेगा। अपने स्वार्थ का त्याग करके दूसरों के हित में जितना ज्यादा खर्च करेगा, उतना ही ऊँचा माना जायेगा। अपना व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़कर कुटुम्ब की सेवा करेगा, उतना ही अच्छा माना जायेगा। कुटुम्ब के सिवाय पड़ोसियों की सेवा करेगा, वह और भी ऊँचा होगा। पड़ोसियों का ही नहीं, सम्पूर्ण गाँव वालों का हित करेगा तो वह और ऊँचा होगा। केवल गाँव का ही नहीं, प्रान्त का हित करेगा, वह और ऊँचा होगा। इसी प्रकार प्रान्त का ही नहीं, सारे देश का, सारे विश्व का हित करने वाला सबसे श्रेष्ठ माना जायेगा। मनुष्यों का ही नहीं, देवता, पशु-पक्षी, वृक्ष, सब जीव-मात्र की सेवा करेगा तो वह और भी श्रेष्ठ होगा। भगवान् की सेवा करे तो सर्वश्रेष्ठ होगा। जैसे वृक्ष के मूल में जल देने से सम्पूर्ण वृक्ष हरा होता है, इसी तरह से भगवान् का चिंतन करे, भगवान् का भजन करे, उससे दुनिया-मात्र की सेवा स्वतः होती है।

सिद्धान्त यह हुआ कि जितनी व्यापक सेवा होगी, उतना ही सेवा करने वाला श्रेष्ठ बनता जायेगा। हमें जो कुछ मिला है वह सृष्टि से मिला है, इसलिए ईमानदारी से उसे सृष्टि की सेवा में लगा देना ही हमारा परम कर्तव्य है। यही गीता का कर्मयोग है।

भगवान् पर अधिकार करने का भी एक तरीव
तरीका यह है कि स्वयं सर्वथा भगवान् का हो जाय
साध्य हैं। साधन सम्पत्ति से उनपर कोई अधिकार जमा ले, यह सम्भव नहीं है। भगवान् का सर्वथा हो जाय; तन, मन, वाणी, विद्या, बुद्धि, अधिकार आदि किसी का भी किञ्चित् भी सहारा नहीं ले। कोई केवल भगवान् का हो जाय तो भगवान् को नचा सकता है। भगवान् उसके वश में हो जायेंगे।

—इसी पुस्तक से